चन्दना

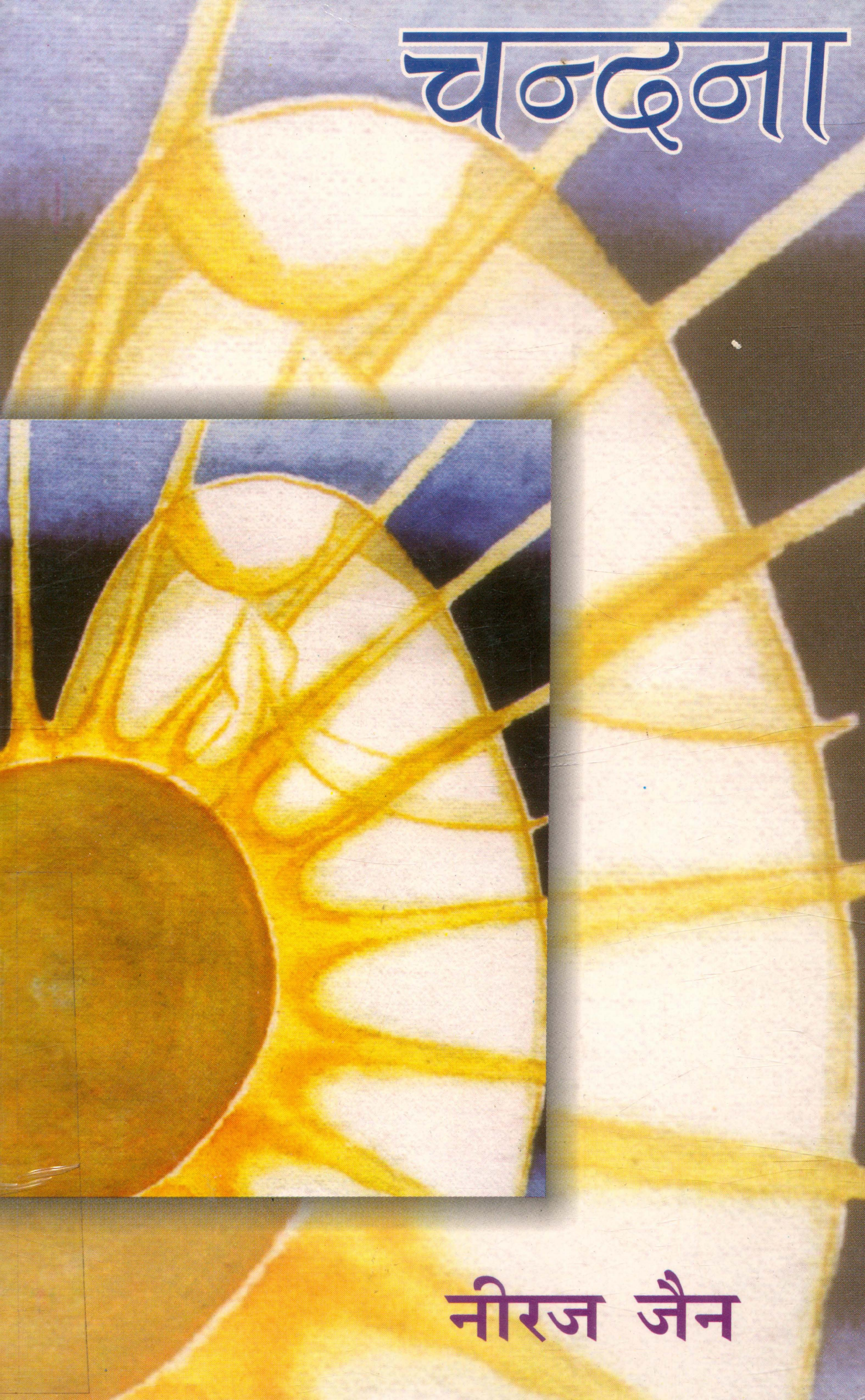

नीरज जैन

चन्दना

(उपन्यासिका)

चन्दना

भगवान महावीर के उदार शासन में
नारी की गरिमा और सर्वोच्च सम्मान के अधिकार को रेखांकित करती
एक प्रसिद्ध पौराणिक नारी-पात्र की
प्रेरक आत्मकथा

नीरज जैन

भारतीय ज्ञानपीठ

पहला संस्करण : 2001
दूसरा संस्करण : 2002

ISBN 81 - 263 - 0780 - 3

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 27

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

आवरण सन्दीप राशिनकर

दूसरा संस्करण : 2002
मूल्य : 25 रु.

© श्री नीरज जैन

CHANDANA
(Novelette)
by Neeraj Jain

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

Second Edition : 2002
Price : Rs. 25

संस्तुति

विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य और साहस का साथ न छोड़नेवाली महान आत्माओं की यशोगाथाओं से भारतीय वाङ्मय समृद्ध है। ऐसे महान चरित्रों के बीच मगध की राजकुमारी 'चन्दना' का जीवन अनुपम आदर्श है। जैन साहित्य और पुराणों की वह एक सम्मानित पात्र है। उसे एक आदर्श श्राविका और आदर्श साध्वी के रूप में सर्वत्र स्मरण किया गया है। अपनी साधना और चारित्र के प्रभाव से चन्दना को भगवान महावीर के चतुर्विध संघ में आर्यिका दीक्षा प्राप्त हुई और अपने तप के प्रभाव से उसने आर्यिका वर्ग की सर्वोच्च उपाधि 'गणिनी' पद को भी प्राप्त किया।

चन्दना का जीवन हमें विषमतम स्थिति में भी सात्त्विक संस्कारों के प्रति दृढ़ बने रहने की मांगलिक प्रेरणा देता है, तथा संकेत करता है कि प्रायः दुखों की कालरात्रि के बाद ही मांगलिक अभ्युदय का सूर्य जीवन को आलोकित करता है।

पौराणिक कथा के अनुसार, चन्दना वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष सम्राट चेटक के यशस्वी कुल में सबसे छोटी राजकुमारी के रूप में जनमी थी। शिक्षा के साथ-साथ सदाचार के आदर्श संस्कार उसके जीवन के सर्वोत्तम अलंकरण थे। अपने माँ-बाप के लाड़-प्यार और सुख-साधनों में पली-बढ़ी चन्दना सभी ओर से निश्चिन्त रही और यह नहीं जान पायी कि क्रूर भाग्य उसकी जीवनरूपी नौका को दुर्भाग्य की भयंकर भँवरों में डावाँडोल करनेवाला है। एक दिन वह वनक्रीड़ा के निमित्त उद्यान में सखियों के साथ क्रीड़ारत थी कि तभी आकाशमार्ग से जाता हुआ एक विद्याधर उस भोली-भाली के मोहक सौन्दर्य के प्रति

कामासक्त हो गया, तथा अपनी विद्या के बल पर उसका अपहरण कर उसे 'वैताढ्यगिरि' ले गया। लेकिन अपनी पत्नी 'मनोवेगा' की उपस्थिति से डरकर वह चन्दना को भयंकर अटवी में अकेला छोड़कर चला गया।

इसके बाद का चन्दना का जीवन तब तक भयंकर व्यथा का इतिहास बनकर रहता है, जब तक परमकृपालु भगवान महावीर मुनि-अवस्था में उसके समक्ष आहार लेने प्रस्तुत नहीं होते हैं।

जैन पुराण-कथाओं में महासती चन्दना के सन्दर्भ उपलब्ध हैं लेकिन वहाँ चन्दना के मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का अंकन उतना सशक्त और प्रभावशाली नहीं बन सका है। प्रस्तुत उपन्यासिका में लेखक की कलम का स्पर्श पाकर यह पौराणिक कथा जीवन्त हो उठी है। कथाकार ने चन्दना की इस व्यथा-कथा को पौराणिकता से हटकर आधुनिक भाषा और 'आत्मकथ्य' की शैली में रेखांकित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

प्रस्तुत उपन्यासिका के लेखक श्री नीरज जैन लगभग पच्चीस वर्षों से जैन विद्या पर लिखते-बोलते आ रहे हैं। 'गोमटेश-गाथा' के लेखन से उन्हें जो लोकप्रियता प्राप्त हुई वह सर्वविदित है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य कृतियों—'रक्षाबन्धन', 'परम दिगम्बर गोमटेश्वर', 'अहिंसा और अपरिग्रह', 'कर्मन की गति न्यारी' तथा 'मानवता की धुरी' ने पाठकों की भरपूर प्रशंसा पायी है।

वीरवाणी के प्रवक्ता के रूप में भी नीरज जैन का सम्मानपूर्ण स्थान है। धार्मिक प्रवचनों के लिए पाँच बार अमेरिका का आमन्त्रण पाने के साथ उन्हें दक्षिण अफ्रीका में आयोजित विश्व-धर्म-संसद में भी बोलने के लिए आमन्त्रित किया गया था।

तीर्थंकर भगवान महावीर के 2600वें जन्म-कल्याणक वर्ष के अवसर पर, आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज की प्रेरणा से श्री नीरज जैन द्वारा रचित इस कृति के प्रस्तुतीकरण पर हमें बहुत हर्ष है। नीरज जी को इस श्रेष्ठ लेखन-कार्य के लिए बहुत-बहुत बधाई।

रमेशचन्द्र
प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

प्रस्तावना

महासती चन्दना जैन साहित्य और पुराणों की एक सम्मानित पात्र है। प्रायः सभी पुराणकारों ने चन्दना के साहस, साधना और शील की महिमा गायी है। एक आदर्श श्राविका और आदर्श साध्वी के रूप में उन्हें स्मरण किया गया है।

पौराणिक आख्यानों और ऐतिहासिक सन्दर्भों के अनुसार महासती चन्दना वज्जिसंघ की राजधानी वैशाली के लिच्छवि राजा चेटक और महारानी सुभद्रा की सबसे छोटी पुत्री थी। महाराजा चेटक का परिवार धर्मनिष्ठ परिवार था। राजा की एक बहन यशस्वती के दीक्षित होकर आर्यिका बनने का भी उल्लेख मिलता है। राजा चेटक के दस पुत्र और सात पुत्रियाँ, ऐसी सत्रह सन्तानों का सन्दर्भ पुराणों में है। उनके पुत्रों के नाम थे—धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, पतंगक, प्रभंजन और प्रभास। इनमें सिंहभद्र वज्जिगण के प्रधान सेनापति के पद को भी सुशोभित करता रहा। महाराजा चेटक और महारानी सुभद्रा की सात पुत्रियाँ थीं—प्रियकारिणी त्रिशला, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा और चन्दना। ज्येष्ठ पुत्री त्रिशला प्रियकारिणी वज्जिसंघ गणतन्त्र के अन्तर्गत, कुण्डग्राम (क्षत्रियकुण्ड) के ज्ञातृक वंश में, काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय महाराजा सिद्धार्थ की रानी थीं। इन्हें भगवान महावीर की जननी होने का गौरव प्राप्त था।

इतिहास पण्डितों ने स्वीकार किया है कि माता त्रिशला महादेवी की सहोदराओं के कारण आर्यावर्त के अनेक नरेशों के साथ वज्जिसंघ गणतन्त्र के मैत्रीपूर्ण राजनैतिक सम्बन्ध रहे हैं। मगधनरेश बिम्बिसार, चम्पानरेश दधिवाहन, कौशाम्बी-नरेश शतानीक, अवन्ती के राज-परिवार और सिन्धु-सौवीर के अधिपति

उदयन, इनमें प्रमुख थे। ये सम्बन्ध केवल राजनैतिक नहीं थे, वरन् इन राजाओं-महाराजाओं पर महावीर की दार्शनिक चेतना और धर्मोपदेशों का भी पर्याप्त प्रभाव था। *सर्वत्र हिंसा का निवारण और जीव दया का आचरण दृष्टिगोचर हो रहा था।* लिच्छवियों और मल्लों ने तो अहिंसामय जैन धर्म को 'राजधर्म' के रूप में ही अंगीकार कर लिया था। महामेघवाहन ऐल सम्राट राजा खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख के अनुसार नन्द राजे भी जैन धर्म के पक्षधर हो गये थे।

मृगावती वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी में राजा शतानीक की पटरानी थीं। कौशाम्बी 'गन्धर्व नगरी' और 'विलास नगरी' के नाम से भी प्रसिद्ध थी। उज्जैन की राजकुमारी वासवदत्ता को जीतकर लानेवाला और 'मातंग-विमोहिनी' वीणा के स्वरों पर पागल हाथियों को वश में कर लेनेवाला प्रसिद्ध वीणा-वादक राजकुमार उदयन इन्हीं मृगावती का पुत्र था। चन्दना के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ इसी कौशाम्बी में घटित हुई थीं।

सुप्रभा दशार्ण देश के तथा प्रभावती सिन्धु-सौवीर देश के राज-परिवारों में ब्याही गयी थीं। चेलना इतिहास प्रसिद्ध मगधसम्राट श्रेणिक बिम्बिसार की पटरानी बनी। छठी पुत्री ज्येष्ठा ने विवाह पूर्व आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

महासती चन्दना राजा चेटक की सातवीं और सबसे छोटी पुत्री थीं। पौराणिक कथा के अनुसार चन्दना तीसरे पूर्व भव में सोमिला नाम की ब्राह्मणी थी। दूसरे पूर्वभव में कनकलता और अनन्तर पूर्व पर्याय में पद्मलता नाम की राजपुत्री थी। इस जन्म में वे भगवान महावीर की मौसी थीं। उन्हें तीर्थंकर महावीर के चतुर्विध संघ में आर्यिका दीक्षा प्राप्त हुई। तप के प्रभाव से चन्दना को आर्यिका वर्ग की सर्वोच्च उपाधि 'गणिनी' पद भी प्रदान किया गया था।

एक दिन वैशाली के समीप उद्यान-विहार के समय चन्दना के रूप पर आसक्त होकर वैताड्यगिरि का विद्याधर वसन्तमित्र चन्दना का अपहरण करके अपने विमान में उठा ले गया, परन्तु उस अबला के साथ किसी प्रकार का बल प्रयोग करने के पूर्व अचानक पत्नी मनोवेगा के वहाँ आ पहुँचने से वह चन्दना को अटवी में छोड़ कर भाग गया।

वनांचल में कालक भील ने चन्दना को देखा और अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। जब इसमें सफलता न मिली तब उसने यह अनुपम रमणी-रत्न अपने नायक सिंहभील के सामने उपहार स्वरूप प्रस्तुत किया। कामासक्त सिंहभील भी महासती को डिगा न सका तब उसने चन्दना को कौशाम्बी के

दासी-पण्य में ले जाकर सेठ वृषभसेन के हाथों बेच दिया।

वृषभसेन के यहाँ सेठानी भद्रा ने, अपने पति को रिझाने की दोष-कल्पना करके, निर्दोष चन्दना को बहुत प्रताड़ना दी। केश मुँड़ाकर, बेड़ियाँ डालकर उन्हें एक अँधेरे कमरे में बन्दी बना दिया। वहाँ कांजी और कोदों का भात ही उन्हें खाने को देती थी। इतनी यातनाओं के बीच भी चन्दना ने धर्म की आस्था को डिगने नहीं दिया। वे कर्मोदय को अटल मानकर सब कुछ समता से सहती रहीं।

आहार की संकल्पित विधि का योग नहीं मिलने के कारण अनेक दिनों तक निराहार लौटने के बाद एक दिन महामुनि महावीर जब कौशाम्बी में चर्या के लिए निकले थे तब बन्दिनी चन्दना ने, उस दयनीय दशा में भी, भगवान को आहार देने का संकल्प किया। भक्ति के प्रभाव से उसके बन्धन खुल गये। शरीर की कान्ति लौट आयी। उसके मुण्डित शीश पर केशराशि लहराने लगी। वह वस्त्राभूषणों से अलंकृत, सर्वांग सुन्दर कन्या के रूप में भगवान का पड़गाहन करने खड़ी थी।

महावीर पधारे। आहार विधि के सम्बन्ध का उनका अभिग्रह पूरा हो गया। फिर अपनी भक्ति के प्रभाव से चन्दना के हाथ का माटी का सकोरा स्वर्ण-थाल हो गया और उसमें रखा नीरस भोजन सरस और सुस्वादु हो गया। गगन से पुष्प वर्षा होने लगी। सबने चन्दना की भक्ति को सराहा। संसार से विरक्त चन्दना ने स्वयं को संघ में समर्पित करने की भावना भगवान के सामने निवेदित कर दी।

भगवान महावीर ने आर्यिका दीक्षा देकर चन्दना को आत्म-कल्याण के मार्ग पर लगाया। यह भगवान के 'सन्तापहारी-दलितोद्धारक' रूप का एक उज्ज्वल उदाहरण था। कालान्तर में साधना के बल पर समवसरण में चन्दना को आर्यिका वृन्द की प्रधान स्वीकार किया गया। 'गणिनी आर्यिका महासती चन्दना' नाम से लोक में उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त हुई। आयु के अन्त में सल्लेखनापूर्वक देह त्यागकर चन्दना का जीव, अच्युत स्वर्ग के देवों में उत्पन्न हुआ।

पुराण-कथाओं को आधुनिक पद्धति से साहित्यिक आख्यायिकाओं के रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता मुझे बार-बार अनुभव होती रही है। 'गोमटेशगाथा' और 'रक्षाबन्धन कथा' के मेरे प्रयासों को पाठकों की सराहना भी मिली है। इससे प्रोत्साहित होकर कुछ अन्य कथाओं की प्रस्तुति का विचार मेरे मन में था, परन्तु जीवन की अवांछित आपाधापी में वे संकल्प दबते रहे। गतवर्ष भगवान महावीर के 2600वें जन्म-कल्याणक वर्ष के आयोजनों में नारी की भूमिका पर चर्चा करते

हुए पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी महाराज ने महासती चन्दना पर कुछ लिखने का मुझे आदेश दिया। उसी समय मैंने उसी 'आत्म-कथ्य' शैली में चन्दना के मनोमन्थन को रेखांकित करके, उस सुकुमार राजपुत्री की कोमल अनुभूतियों और उस महासती की सुदृढ़ संकल्प-शक्ति को शब्दों में बाँधकर प्रस्तुत करने का संकल्प कर लिया। संयोग से वह 31 अक्टूबर 2000 मेरे जीवन के 75वें वर्ष में प्रवेश का दिन था।

मैंने गुरु आज्ञा का सम्मान करते हुए 'चन्दना' का लेखन प्रारम्भ तो कर दिया, पर जितना आसान मैंने समझा था, वह काम उतना आसान नहीं था। चन्दना के सन्दर्भ तो प्रायः पुराणों और कथाओं में उपलब्ध थे, परन्तु कथावस्तु के नाम पर हर कहीं मुझे निराशा ही हाथ लगी। पुराणों में अधिकांशतः चाक्षुष वर्णन ही पढ़ने को मिलते हैं। पात्रों के मानसिक द्वन्द्व वहाँ अंकित नहीं हो पाते। पौराणिक प्रसंगों पर लेखनी चलाते समय यह कमी मुझे अखरती रही है।

चन्दना के कथानक को लेकर यही कठिनाई मेरे सामने रही। चन्दना के साथ घटी घटनाओं की सूचना तो पुराणों में है, परन्तु उनकी मनोदशा का चित्रण कहीं नहीं मिला। विचित्र घटनाओं के भँवर में डूबती-उतराती चन्दना के मानसिक द्वन्द्व कहीं अंकित नहीं मिले। श्वेताम्बर साहित्य में महावीर के आहार वाली घटना को अवश्य कुछ विस्तार से अंकित किया गया, परन्तु आन्तरिक संवेदनाओं का चित्रण वहाँ भी अनुपस्थित है। नव-साहित्य में अवश्य इस दिशा में कुछ प्रयास हुए हैं परन्तु कुछ कारणों से उनका अनुकरण मुझे इष्ट नहीं हुआ।

ऐसी स्थिति में चन्दना की अनुभूतियों और वेदनाओं को लिये हुए अपनी कल्पनाओं की उड़ान के लिए कोई नया आकाश तलाशना मेरी प्राथमिकता बन गयी। उसके बिना लेखनी चलाना असम्भव सा प्रतीत हुआ। कई दिनों तक यह तलाश जारी रही तब अन्ततः कौशाम्बी के राजमहल में मैंने उस आकाश को ढूँढ़ निकाला जहाँ मेरी कल्पना उड़ान का अभ्यास कर सकती थी।

कारा से मुक्त होकर, महावीर को आहार देने के पश्चात्, चन्दना ने अपनी सहोदरा, कौशाम्बी की महारानी मृगावती के साथ कुछ क्षण बिताये थे। मैंने वहाँ महासती चन्दना की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को उन्हीं के मुख से कहलवाया है। अपने प्रयत्न में मुझे कितनी सफलता मिली है यह तो आप ही बता सकेंगे।

पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी महाराज ने, तथा समाधि-साधना में संलग्न पूज्य विशुद्धमती माताजी ने, मुद्रणपूर्व इस आलेख का अवलोकन करके अपना

शुभाशीर्वाद प्रदान किया, इसके लिए मैं इन दोनों पूज्य चरणों में कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हें सविनय प्रणाम करता हूँ। इन सन्तों के आशीर्वाद से ही यह आलेख प्रस्तुत हो सका है। मेरे अनुज निर्मल जैन से मुझे अनेक उपयोगी सुझाव मिले हैं। प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबन्ध-न्यासी श्रीयुत भाई साहु रमेशचन्द्रजी के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। मन कहता है यह भी लिख दूँ कि पाठकों की प्रतिक्रिया मेरा मार्ग-दर्शन करती है।

शन्ति सदन, सतना
वर्णी-जयन्ती, 4-9-2001

चन्दना

1

आज कौशाम्बी का राजमहल दुलहन की तरह सजा था। द्वारों पर सुन्दर फूल-पत्तियों के बन्दनवार झूल रहे थे। कँगूरों पर सजाए गए दीपों से पूरा महल नक्षत्रों की तरह जगमगा रहा था। वाद्य संगीत की मधुर लहरियाँ बिखर रही थीं। दानशाला में यथेच्छ दान का अनवरत वितरण चल रहा था।

सुन्दर वस्त्रालंकारों में सुसज्जित, प्रसन्नवदना महारानी मृगावती पर्यंक पर बैठीं अवश्य थीं पर उनके मन का आह्लाद जैसे पूरे कक्ष में नाच रहा था। सखी सहेलियों और परिचारिकाओं के उस प्रमुदित समुदाय में किस क्षण राजमहिषी कहाँ थीं और कहाँ नहीं थीं सो कहना कठिन था। धूपदान में से निकलते सुगन्धित धूम, धीमे स्वर में गूँजते वीणा-रव और देवी मृगावती की सुखानुभूति ने एकमेक होकर उस विशाल कक्ष के कोने-कोने को पूर दिया था।

सहसा भीतर से स्वर्गिक आभा-मण्डित एक युवा कन्या ने कक्ष में प्रवेश किया। दिव्य कांचन वर्ण, उन्नत ललाट और सानुपातिक, कमनीय कृश काया। उस सुन्दरी को देखकर लगा जैसे कोई देव-कन्या वहाँ आ गयी हो। किसी को समझते देर नहीं लगी कि इसी अनुपम अतिथि के स्वागत के लिए महारानी ने आज यह उत्सव किया था। इसी अतिरूपा के आगमन के सत्कार में आज पूरा राजमहल आलोकित हुआ था।

सादे स्वच्छ आवरण में सज्जित उस सुन्दरी की देह पर अलंकार प्रायः नहीं थे। उस देवी के प्रवेश के साथ ही वह कक्ष जैसे किसी अलौकिक आभा से दीप्त

हो उठा। उसकी कुन्दाभ देह-कान्ति ज्योत्स्ना के शीतल प्रकाश की तरह कक्ष में फैल गयी। एक साथ सबकी आँखें अतिथि की ओर उठीं और वहीं केन्द्रित होकर रह गयीं। सबके मन में उत्सुकता से उपजे एक जैसे प्रश्न गूँज उठे–

"पहले तो राजमहल में कभी इनका दर्शन नहीं हुआ, कौन हैं ये देवी ?"

"कहाँ से इनका आगमन हुआ ?"

"मानुषी ही हैं या किसी अप्सरा को आमन्त्रित कर लिया है महारानी ने ?"

मृगावती ने दो पग बढ़कर स्नेहपूर्वक आगन्तुक को गले लगा लिया।

"ये हैं हमारी अनुजा, चन्दना।" बस, इतने ही शब्द महारानी के मुख से निकले और हर्षावेग ने उनका कण्ठ अवरुद्ध कर लिया। दोनों बहनें एक-दूसरे की बाँहों में समायीं आत्मविभोर ऐसे खड़ी थीं जैसे अब कभी अलग होना ही नहीं है। उस समय उन्हें देखकर लगता था जैसे कोई कोमल वनलता किसी पुष्पित पादप से लिपट गयी हो।

महारानी के मुख से 'अनुजा' शब्द सुनते ही समुदाय में हलचल-सी मच गयी। महिलाएँ एक-दूसरे को ढकेलते हुए अपनी रानी की बहन को निहारने का प्रयास करने लगीं। वे इस अकल्पित अवसर पर, उस अलौकिक सौन्दर्य-प्रतिमा को देखकर जितनी विस्मित हो रही थीं, उसके परिचय ने उन्हें उससे भी अधिक विस्मय में डाल दिया था। अपनी जिज्ञासा को धीमे स्वर में वे एक-दूसरे के कानों तक पहुँचा रही थीं–

–"दासी के रूप में क्रय की गयीं ये चन्दना हमारी महारानी की बहन हैं ?"

–"वर्धमान स्वामी को आहार देनेवाली भाग्यशाली श्राविका यही हैं न ?"

–"तुमने सुना, अब ये वैराग्य लेकर आर्या संघ की शरण में जा रही हैं !"

–"वैरागिन होकर यह कोमल काया तपस्या का क्लेश कैसे सहेगी ?"

और न जाने कितनी बातें। सुना हुआ सच था, पर देखे हुए पर विश्वास करना कठिन लग रहा था।

महारानी ने प्यार से चन्दना को अपने पास बिठाया। थोड़ी देर सबके साथ सुख-दुख की बातें होती रहीं फिर यथायोग्य भेंट-पुरस्कार आदि के उपरान्त वह छोटी-सी मैत्री-सभा विसर्जित हो गयी।

2

रात अभी गहराई नहीं थी। कौशाम्बी का राज-परिवार महारानी मृगावती के कक्ष में चन्दना के समीप एकत्रित था। आज बहुत दिनों के बाद मृगावती को अपनी लाड़ली बहन से मिलने का सुयोग मिला था। चन्दना आर्या संघ की शरण में पहुँचना चाहती हैं। इसमें एक पल का भी बिलम्ब अब उन्हें सह्य नहीं है, पर कल बड़ी बहन का स्नेह-भरा आग्रह एक दिन के लिए उन्हें इस राजभवन में खींच ही लाया। सहोदरा के मोहपाश में आबद्ध वे केवल एक दिन के लिए यहाँ विरम गयी हैं। कुछ घड़ियों का बिलम्ब है, फिर तो जीवन की वह यात्रा प्रारम्भ होगी जिसमें कहीं कोई भय नहीं, कोई दुख नहीं। चिन्ताओं-आशंकाओं का जहाँ कोई प्रसंग ही प्रस्तुत नहीं होता। आज मृगावती के हर्ष का पार नहीं था। वे सोच रही थीं—कितना काल बीत गया जब महल के उपवन में से एक दिन चन्दना अकस्मात् बिछुड़ गयी थी। महल में तो इतनी ही सूचना आयी थी कि राजकुमारी उपवन में अभी-अभी तक थीं, परन्तु अब वे वहाँ कहीं दिखाई नहीं दे रहीं।

फिर कितने प्रयास किये वैशाली के चरों ने, कहाँ-कहाँ नहीं ढूँढ़ा गया राजकुमारी को ? पर जल-थल और नभ में कहीं भी उसका कोई चिह्न तक नहीं मिला। किसी नर-भक्षक ने अपना ग्रास बनाया होता तो चन्दना के वस्त्राभूषण कुछ तो शेष मिलते। पृथ्वी उसे लील गयी होती तो धरती फटने के चिह्न ढूँढ़कर वैशाली के कुशल तक्षक पाताल से भी उसे निकाल लाते। क्षण भर में ऐसे विलीन हो गयी राजकुमारी कि किसी को भान तक नहीं हुआ। सारी तलाश व्यर्थ रही। सारे उपाय विफल होते गये।

कुछ दिनों में माता ने छाती पर पत्थर रखकर विधि के विधान की तरह अपनी सबसे प्यारी पुत्री का वियोग विवश स्वीकार कर लिया। पिता असहाय से कर्मोदय की बलवत्ता को सिर झुकाकर उसे भुलाने का जतन करने लगे।

फिर कल कौशाम्बी में दो चमत्कार एक साथ घटित हुए। महामुनि वर्धमान स्वामी के कठिन अभिग्रह का सुयोग मिला। दीर्घ अन्तराल के बाद उनकी पारणा

हुई। समाचार मिलते ही जब उस पुण्य योग की अनुमोदना-सराहना की भावना लेकर हम वहाँ गये तब अकस्मात् हमसे बिछुड़ी हमारी लाड़ली बहन हमें वहाँ मिल गयी।

हम सब तो तभी निराश हो चुके थे। हमारा परिवार तो अब चन्दना के मिलने की आशा ही छोड़ बैठा था। यह कैसा विचित्र संयोग है कि सारे प्रयास करके भी हम जिसकी छाया तक न पा सके, महावीर की पारणा के अवसर पर अनायास उन्हीं तपस्वी के चरणों में हमने उसे पा लिया। चन्दना के जन्म के समय हमारे माता-पिता को वैसा हर्ष नहीं हुआ होगा जैसे हर्ष की अनुभूति कल से हमें हो रही है।

चन्दना ने संघ की शरण में अपने आपको समर्पित कर दिया है। हमारे पास तो वह आज की ही धरोहर है। कल चन्दना हमारे पास नहीं रहेगी, पर बिछुड़ी हुई बहन को पाने के आह्लाद का आस्वाद हमें जीवन भर प्रमुदित करता रहेगा। हमारी चन्दना हमें मिल गयी है, वह अब कभी हमसे नहीं बिछुड़ सकेगी।

विचारों के इसी सागर में डूबती-तैरती मृगावती यह जानने के लिए उत्कण्ठित थीं कि उस दिन वैशाली के उपवन से उनकी सहोदरा कैसे, कहाँ विलीन हो गयी थी। फिर कैसे वह सुरक्षित रही और कैसे कौशाम्बी तक आयी, उसने अपनी विपत्ति की सूचना राजभवन तक क्यों नहीं पहुँचायी, फिर कल कैसे महामुनि सन्मति को पड़गाहन करने का सुअवसर उसे मिला ?

स्नेहपूर्वक बहन के कन्धे पर हाथ रखकर उन्होंने पूछा—

"उस दिन तुम्हारे साथ क्या अघट घट गया था चन्दन ! अकस्मात् कहाँ विलीन हो गयी थीं तुम ? फिर कौशाम्बी में आकर हम तक समाचार पहुँचाना क्या किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था तुम्हारे लिए ?"

"अब यह सब जानकर क्या करोगी दीदी ? वह सब बड़ा भयानक था। आज तो उसकी स्मृति से भी काँप जाती हूँ मैं। तुम्हारी चन्दन जीती जागती तुम्हारे सामने बैठी है। जैसा उसका तन-वदन सुरक्षित देख रही हो न, असीम पुण्योदय से वैसा ही उसका शील-सतीत्व भी सुरक्षित है, इतना जान लेना क्या पर्याप्त नहीं है तुम्हारे लिए ?"

शान्त भाव से चन्दनबाला ने बहन को उत्तर दिया।

"नहीं चन्दन ! यह पर्याप्त नहीं है हमारे लिए। तुमने जिन विकट

परिस्थितियों में अपने आपको सँभाला, और अपनी आस्था को डिगने नहीं दिया, वह केवल एक अबला नारी की कहानी नहीं है। उससे सम्पूर्ण नारी समाज का सरोकार है। आज-हम वह सब सुनना चाहते हैं। क्योंकि हमें विश्वास है दीर्घकाल तक तुम्हारी कथा नारी मन का सम्बल बनती रहेगी और उन्हें प्रेरणा देती रहेगी।

''यह भी तो सोचो कि यदि आज तुम्हारे मुख से नहीं निकला तो वह सब सदा के लिए अनकहा ही रह जाएगा। संघ में प्रवेश करने के उपरान्त फिर साधक का कोई अतीत नहीं रह जाता। फिर वह वर्तमान में जीता है और भविष्य को सँवारने का पुरुषार्थ करता है। हमें सब बताओ चन्दन ! लोकहित के सन्दर्भ में भी उसका महत्त्व है।'' मृगावती ने अपने आग्रह का औचित्य चन्दना को समझाया।

''यदि इतना प्रबल आग्रह करती हो दीदी ! तो मैं तुम्हारा यह आदेश शिरोधार्य करती हूँ।''

3

हर दिन की तरह वह भी एक सामान्य-सा दिन था। मध्याह्न ढल रहा था और सूर्य का तेज मन्द होने लगा था। उपवन की ओर से फूलों की सुगन्ध लिये सुरभित बयार हमारे कक्ष तक आ रही थी। मेरा मन उपवन की सैर के लिए मचल उठा। मोहिनी और मनोरमा को साथ लेकर मैं वन क्रीड़ा के लिए चली गयी। वहाँ पहुँचकर सारथी और रक्षक पथ के पार्श्व में विश्राम करने लगे और हमने सदा की तरह हँसते-बोलते वन में प्रवेश किया।

तुम तो जानती हो दीदी ! वैशाली की राजपुत्रियों के लिए वनक्रीड़ा कोई नयी बात नहीं है। यह तो हमारा रोज का कौतुक था। गणतन्त्र की सीमा के भीतर राज-परिवार तो क्या, हर नागरिक सुरक्षित था। नर और नारियाँ, यहाँ तक कि बालक-बालिकाएँ भी, निर्भय विचरते थे। राज्य में कहीं किसी प्रकार का भय नहीं था।

हम तीनों सहेलियाँ अपनी क्रीड़ा में मगन वृक्षों के बीच घूमने लगीं। झूले पर बिठाकर एक-दूसरे को झुलाने लगीं। उन दोनों को झूले में व्यस्त देख मैं पुष्प बटोरती हुई कुंज के बाहर तक चली गयी। बस दीदी, यही मेरे लिए अभिशाप हो गया। अकस्मात् पीछे से किसी के बलिष्ठ हाथों ने मुझे जकड़ा और आकाश में उठा लिया। कहने में तो समय लगता है दीदी ! पर यह घटने में क्षणांश भी नहीं लगा। मैं पूरे जोर से छटपटायी और चीख पड़ी, पर आततायी ने मेरा मुँह इस प्रकार दबा रखा था कि मेरी चीख भीतर ही घुटकर रह गयी।

सच तो यही है बहन कि कर्मों की गति न्यारी है, उसे समझना सरल नहीं। चालाक भेड़िया जिस प्रकार झपट्टा मारकर अपने शिकार को उठा ले जाता है, उसी प्रकार उस राक्षस ने मुझे धरती से उठा लिया था। पास ही खेलती सखियों को पुकार सकूँ इतना भी अवसर मुझे नहीं मिला। मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि कभी ऐसी विपत्ति भी मुझ पर आ सकती है। बस, इतना ही मुझे स्मरण है। फिर मेरे नेत्रों के सामने अँधेरा छाने लगा, मेरी चेतना लुप्त होने लगी और

सम्भवतः इसके बाद ही मैं मूर्च्छित हो गयी।

पाषाण के शीतल स्पर्श से जब तन्द्रा टूटी तब मैंने स्वयं को सघन वन की भयंकर अटवी में एक ऊँची चट्टान पर पाया। मैंने देखा सामने दो विमान धरती पर खड़े हैं। समीप ही एक स्त्री-पुरुष परस्पर विवाद में उलझ रहे हैं। महिला उच्च स्वर में बकझक कर रही है। उनकी बातों से मैं इतना समझ पायी कि ये कोई विद्याधर दम्पती हैं। पुरुष मेरा अपहरण करके ले जा रहा था। उसे ज्ञात नहीं था कि उसकी लम्पटता से त्रस्त, सदा-शंकालु सहचरी आज उसका पीछा कर रही है।

पीछे पत्नी का विमान आता देखकर, उसकी ललकार सुनकर ही उस पामर ने अपना विमान अटवी में उतार लिया था। सम्भवतः पत्नी का विमान उतरने के पूर्व ही वह मुझे वहाँ छोड़कर भागना चाहता था, पर पत्नी के आगमन ने उसे इतना अवसर नहीं दिया। अब वह अपराध बोध से ग्रसित, वनांचल के भ्रमण का रूपक बनाकर, अपने को निर्दोष बताने का नाटक कर रहा था।

थोड़ी देर में वे दोनों लड़ते-झगड़ते विमानों में बैठ वहाँ से चले गये।

अब मैं उस अटवी में निपट अकेली रह गयी थी। सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ रहा था। उसकी स्वर्णाभा पूरी अटवी पर छा रही थी। चारों ओर निस्तब्धता और निर्जनता का साम्राज्य दिखाई देता था। दूर दूर तक मानव के अस्तित्व का कोई चिह्न मुझे दिखाई नहीं दिया। प्रकृति की सुन्दरता तो बहुत देखी थी दीदी, पर उसका सौन्दर्य भयावह भी होता है यह पहली बार मैं उस अटवी में ही जान पायी। सामने वंश-वृक्षों की कोंपलें पूरी वनराजि के ऊपर ऐसे अपनी बढ़त दिखा रही थीं जैसे बादलों को छूने का प्रयास कर रही हों। पार्श्व में एक प्रपात था। पुष्कल परिमाण में अटूट जलराशि तीव्र गति से, अपने पतन का घोष करती, नीचे कुण्ड में गिरकर वन में विलीन होती जा रही थी। कुण्ड पर अन्धकार छाने लगा था। आगे मैं कुछ भी देख नहीं पा रही थी।

प्रकृति का यह रूप देखकर एक क्षण के लिए मैं उसमें खो गयी। एक ओर ऊपर की ओर उठती कोंपलें प्रकृति के निरन्तर उत्थान की ध्वजा फहरा रही थीं। उधर दूसरी ओर पातालगामी प्रपात प्रकृति के अन्तहीन पतन को मनहर रूप में प्रस्तुत कर रहा था। प्रकृति का पतन भी इतना मनभावन होता है, यह मुझे पहली बार बोध हुआ।

मुझे लगा लुभावना सौन्दर्य हो या भयावह रूप, दोनों के स्रजन में प्रकृति के

उत्थान और पतन दोनों क्रियाओं का अनिवार्य योग होता है। ये दोनों एक मुद्रा के ही दो पहलू हैं। जब ये भिन्न होकर भी अभिन्न ही हैं तब मनुष्य के मन में एक को लेकर हर्ष और दूसरे के लिए विषाद क्यों उत्पन्न होता है ?

माता ने कभी हमें सिखाया था 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों के सामंजस्य का नाम ही द्रव्य है'। द्रव्य की दो पर्यायों में एक साथ इन तीनों का बोध हो जाता है। हर स्रजन की अन्तिम परिणति विनाश है और हर विनाश किसी नये स्रजन का सूत्रपात है। यही जगत की जीवन्तता का रहस्य है। यहाँ हर पदार्थ का अस्तित्व अपने ही अतीत के शव पर अवस्थित होता है।

उस दिन उस ढलती साँझ के मद्धिम प्रकाश में प्रकृति नटी का नख-शिख अवलोकन करके मैं नश्वर संसार की इस शाश्वत व्यवस्था को जैसी सूक्ष्मता से समझ सकी, उतने स्पष्ट रूप में पहले कभी नहीं जान पायी थी। उस घोर विपदा के बीच यह सब विचार कर मुझे कुछ सान्त्वना मिली। क्षण भर को मेरी असाता अनुभूति तिरोहित हो गयी। उस दिन यही मेरी सन्ध्या - सामायिक हुई।

विचार-चक्र से निकलते ही मुझे अपनी असहाय अवस्था का भान हुआ। अन्धकार गहन होने लगा था। अब उस भयंकर तमिस्रा में, हिंस्र पशुओं से व्याप्त उस निर्जन अटवी में, मैं एकाकिनी बैठी थी। भक्षक चारों ओर थे, रक्षक वहाँ कोई नहीं था। कहीं नहीं था। माता के कानों तक मेरी पुकार पहुँचनी नहीं थी, तब घोर निराशा के क्षणों में जीवन का उत्सर्ग करने की बात मेरे मन में आयी। मैंने जीवन में पहली बार मृत्यु को पुकारा–

'ओ मृत्यु माता ! अपने अंक में सुलाकर अब तुम्हीं मेरी पीड़ा का उपचार कर सकती हो, तुम्हीं बचा सकती हो मुझे इस विपत्ति से।...'

कहते कहते चन्दना का गला भर आया। वे हिलक कर रो उठीं।

मृगावती ने हृदय से लगाकर अनुजा को आश्वस्त किया। स्वयं उनके नेत्रों से अविरल बहती अश्रुधार जब देह पर पड़ी तभी चन्दना को उसका भान हुआ। उन्होंने अपने आपको सँभालते हुए, साहस बटोर कर अपनी व्यथा-कथा को गति देने का पुनः प्रयास किया–

दीदी ! उस क्षण मेरा मन दुर्बल हो गया था। क्षण भर के लिए मेरे मन में आया–'अब जीवन का कोई अर्थ नहीं रहा। इस असहाय अवस्था में आगे जाकर न जाने और क्या भोगना पड़े, अतः अपने हाथों इस पर्याय का पर्यवसान कर

डालना ही ठीक होगा। इस चट्टान से पीछे प्रपात में छलाँग लगाते ही स्वयमेव मेरे सारे दुखों का अन्त हो जाएगा। यह सारी निराशा, सारी विभीषिका और यह सारा अन्धकार नष्ट होने में एक क्षण ही तो लगेगा। वह पापिष्ट अपहर्ता विमान उतारने के बदले यदि नभ से ही मुझे इस वन में फेक देता तो अब तक तो यह सब हो ही चुका होता। अब इसमें बिलम्ब क्यों करूँ ?' मैं उठकर खड़ी हो गयी।

चलने को पग उठाया कि तभी दूर गगन में बिजली कौंध गयी।
अँधेरे को चीरती हुई विद्युत की प्रकाश-रेखा ने
मुझे प्रकृति के उत्थान और पतन के उस अद्‌भुत समन्वय का
एक बार पुनः साक्षात्कार करा दिया।
एक बार पुनः नश्वर जगत की अनश्वर व्यवस्था
मेरे सामने साकार हो उठी।
आकाश में क्षणमात्र के लिए उभरी वह रजत-रेखा
मन के क्षितिज पर नया सूर्योदय कर गयी।
मुझे भास गया कि जन्म और मरण, मरण और जन्म,
दोनों एक मुद्रा के दो पहल ही तो हैं।

मैं मृत्यु की शरण में जा रही थी, किन्तु क्या सचमुच
जीवन के कष्टों से मुक्ति दिलाने की सामर्थ्य है मृत्यु में ?
मृत्यु तो जीवन की जननी है।
वह आती है तो इस जीवन का दीप भले ही बुझ जाता है, पर
उसी समय एक नये जीवन का सूत्रपात भी तो हो जाता है,
एक नया दीप-प्रज्वलन तत्काल ही तो हो जाता है।
यह चक्र तो अनादि से चल रहा है।
इसमें उलझकर मुक्ति की कामना,
क्या जल-मन्थन से नवनीत की कामना जैसी निरर्थक नहीं है ?
जो अनन्त समस्याओं से भरे दूसरे जीवन में ढकेलती हो
वह मृत्यु किसी समस्या का समाधान कैसे हो सकती है ?

मुझे चिन्तन के आलोक में मार्ग सूझ गया।
प्रपात की ओर उठा मेरा पग अनायास वापस लौट गया।
मैं पुनः उसी शीतल चट्टान पर बैठ गयी।

जीवन और मृत्यु को लेकर मेरा हृदय-मन्थन होता रहा। मुझे लगा, अनागत के भयों से डरकर यह मानव-पर्याय खो देने का मेरा संकल्प विवेक-सम्मत नहीं था। भयावेग में लिया गया वह निर्णय क्षणिक भावुकता की उपज थी। जो जन्मा है वह मरेगा ही। मेरी भी एक दिन मृत्यु होगी। मृत्यु से कोई बच नहीं सका, मैं भी नहीं बचूँगी, पर उस बिजली की कौंध ने मुझे जो सोचने का अवसर दिया, उसका सहारा पाकर मैं मृत्यु के भय से बच गयी, सदा सदा के लिए बच गयी।

मैंने निश्चय कर लिया कि अब मैं मृत्यु से पहले नहीं मरूँगी।
'भव-मरण' का सामना तो एक दिन सबको करना है,
परन्तु आतंक के आवेग में प्रतिक्षण जो 'भाव-मरण' होता है,
वह मुझे अब नहीं करना है।
मैं इस दुर्लभ पर्याय को ऐसे क्षणिक आवेश में नष्ट नहीं करूँगी।
स्व-कल्याण के लिए इसका उपयोग करूँगी।
अपनी पूरी शक्ति लगाकर मैं परिस्थितियों से जूझती चलूँगी,
शक्ति भर विपत्तियों का सामना करूँगी।

उस क्षण मैंने यह संकल्प अवश्य कर लिया दीदी, कि यदि कभी मेरे शील पर संकट पड़ा तो मैं प्राण देकर भी शील की रक्षा करूँगी। अपनी शील सम्पदा को सुरक्षित रखकर ही जिऊँगी और अवसर आया तो शील-रक्षा के लिए आगे बढ़कर मरण को स्वीकार कर लूँगी। तब मैं बाँहें फैलाकर अपनी मृत्यु को स्वयं गले लगाऊँगी।

जैसे-जैसे रात बीतने लगी वैसे ही वैसे अटवी की नीरवता बढ़ने लगी। हिंस्र पशुओं की गर्जनाएँ क्रमशः मन्द और बन्द होती गयीं। जब-तब कहीं किसी आतुर प्राणी के संचरण से वह नीरवता क्षणेक के लिए भंग होती थी। बीच-बीच में कुछ पक्षी भी अपनी उपस्थिति का आभास दे जाते थे। मुझे स्मरण हुआ—जीवन में पहली बार आज मैं रात्रि में अकेली हूँ। माता ने हमें कभी अकेला नहीं छोड़ा। वर्जना करने पर भी कम-से-कम एक दासी तो हमारे कक्ष में होती थी। माता के लिए मैं अभी अबोध बालिका ही तो थी। वे स्वयं भी रात्रि में एक बार मेरे कक्ष में अवश्य आती थीं। मैं सोचती रही दीदी, कि इस समय माता भी मेरी तरह निद्राहीन बैठीं मुझे स्मरण करके रो रही होंगी।

मेरे विचारों की यह धारा अधिक देर नहीं चली। अब मेरा ध्यान सामने उपस्थित समस्याओं की ओर गया। रात्रि तो इसी चट्टान पर बितानी है। पशु

इस ऊँचे चिकने पाषाण पर चढ़कर आ सकते हैं या नहीं सो कहना कठिन है। सर्प-सरीसृप सुगमता से आ सकते हैं। परन्तु अब कौन आ सकता है और कौन नहीं, यह सोचकर क्या होगा ? अपने आयुकर्म पर आस्था और प्रभु नाम पर भरोसा करना चाहिए। जहाँ सारे सहारे छूट जाएँ वहाँ भगवान का नाम ही सहारा है।

'प्रभु नाम' का स्मरण आते ही तपस्वी महावीर की सौम्य छवि मेरी आँखों में झूलने लगी। उनकी करुणा-पूरित मुखाकृति ऐसे झलकने लगी जैसे वे यहीं, इसी शिला पर विराज रहे हों। सहसा मेरे मुख से निकल गया—'आज की रात मेरे मन में ही विराजो मुनिनाथ ! इस भीत अबला को साहस दो महावीर !'

करुणानिधान वर्धमान मुनिराज के गुणानुवाद में मेरी समग्र चेतना तल्लीन हो गयी। मेरे प्रभु वर्षों से जिस सत्य की शोध में संलग्न हैं उस सत्य की एक कणिका मेरे अन्तस्तल में दीप्त हो उठी। मैं देह नहीं हूँ, विदेह हूँ। जन्म और मरण, रोग और जरा, वध और बन्धन, ये सारे उपद्रव देह पर होते हैं, मैं तो इन सबसे विलग, चेतना का पुँज हूँ। कष्ट मुझे कोई दे नहीं सकता, व्यथा मुझे व्याप ही नहीं सकती, तब आतंकित होने का प्रश्न ही कहाँ है ? मरण में मुझे स्पर्श करने की शक्ति ही नहीं है तब मृत्यु का भय कैसा ?

बस, ऐसे ही प्रभु-स्मरण और आत्म-चिन्तन में अपनी समग्र चेतना को नियोजित करके मैं उस पाषाण शिखर पर रात भर बैठी रही। विपत्ति के भय की बात तो दूर, मुझे उस पाषाण की शीतलता का भी भान नहीं हुआ।

4

प्राची ने प्रकाश फैलाया और पक्षियों ने चहकना प्रारम्भ किया तब मेरी ध्यान-समाधि टूटी। मैंने अपने परिवेश को ध्यान से देखा। सूर्योदय के कुछ पहले ही वनांचल में एक अनोखी हलचल मच गयी थी। पक्षी अन्धकार पर प्रकाश की विजय का जयगान करने लगे थे। पशु अपने शरणस्थल त्यागकर निकलने लगे थे। वृक्षों पर मर्कट लीलाएँ प्रारम्भ हो चुकी थीं। चारों खूँट जीवन-संगीत के सातों स्वर गूँजने लगे थे।

बीती साँझ की अप्रिय घटना की टीस का अनुभव करते हुए भी मैं कुछ आश्वस्त थी कि इस निर्जन अटवी में रात्रि व्यतीत हो गयी और मेरा कोई अहित नहीं हुआ। कल उपवन में मेरे लिए मनुष्य ने राक्षस का रूप धर लिया था परन्तु रात्रिकाल में इस घोर वन के पशुओं ने मेरे साथ कोई पशुता नहीं दिखायी। सम्भवतः इसलिए कि पशु अकारण किसी को हानि नहीं पहुँचाते। या फिर इसलिए कि कल उपवन में मेरा कर्मोदय प्रतिकूल था और यहाँ वन में वैसा कुछ नहीं था।

मैंने सम्मेदाचल की ओर आवर्त और प्रणति पूर्वक सिद्धों को नमन किया। तेईस तीर्थंकर भगवन्तों का स्तवन करके पार्श्वप्रभु की वन्दना की और महावीर महामुनि के स्मरण में दो घड़ी काल बिताया। अपने आपको उनके श्रीचरणों की छाँह में मैं सुरक्षित अनुभव करती हूँ। उन्हें स्मरण करते समय मेरे सारे भय भाग जाते हैं। मुझे अपने भीतर एक अनोखी शक्ति का अनुभव होने लगता है।

वनश्री की पवित्र सुषमा चारों ओर क्षितिज तक बिखरी दिखाई दे रही थी। उसका अनन्त आकर्षण मेरी दृष्टि को हठात् बार बार अपनी ओर खींच रहा था और मैं निःशंक मन से निसर्ग की उस अपार सम्पदा का साक्षात्कार कर रही थी।

सहसा इसी बीच कुछ अस्पष्ट से मानव-स्वर मेरे कर्णगोचर हुए। वह मानव-ध्वनि दूर कहीं वृक्षों के झुरमुट से आ रही थी। उस समय पक्षियों के बहुविध कलरव के मध्य भी मानव के बोल पहचानने में मुझसे कोई भूल नहीं हुई। अब तक मैं आश्वस्त हो चुकी थी कि अटवी के पशु-पक्षियों से मेरा अहित नहीं होगा,

पर, मनुष्य पर विश्वास करने का अब मुझमें साहस नहीं था। आशंका से भरी मैं अपनी पूरी चेतना को कर्णगत करके जहाँ से वह ध्वनि आ रही थी उस ओर देखने लगी।

एक क्षण में ही झाड़-झंखाड़ के बीच से उभरती दो मानव-आकृतियाँ मुझे दिखाई दीं। परस्पर बातों में लगे वे लोग अब इसी ओर आते दिखने लगे थे, पर अब तक उन्होंने मुझे देखा नहीं था। उनकी दृष्टि से ओझल होने का उस पाषाण-शिला पर मेरे पास कोई उपाय नहीं था। पार्श्व प्रभु का नाम लेती मैं जैसी बैठी थी वैसी ही बैठी रही।

चट्टान के निकट आने पर ही मुझ पर उनकी दृष्टि पड़ी होगी। वे लगभग विस्मित से मेरी ओर निहारने लगे। उनमें एक स्त्री थी, दूसरा पुरुष। गहरा श्याम वर्ण और कटि के ऊपर सर्वथा अनावृत देह से ज्ञात हो गया था कि वे वनवासी भील हैं, मृगया के लिए वन में आये होंगे। मैंने लक्ष्य कर लिया कि मेरी ओर इंगित करके, बात करते हुए वे इसी ओर बढ़ते चले आ रहे थे।

यह बीती सन्ध्या की बात होती दीदी, तो तुम्हारी चन्दन भय से काँप गयी होती, चीख पड़ी होती, या मूर्च्छित हो गयी होती। पर आज तो उस अटवी में एक दूसरी ही चन्दना बैठी थी। मुझे विश्वास हो गया था कि दुष्कर्मों का प्रकोप हो तब उपवन में भी मनुष्य राक्षस बनकर आकाश से टपकता है, और पशुता का आचरण कर बैठता है। पर जब तक वैसा न हो, तब तक भयंकर अटवी में हिंस्र पशुओं के बीच भी, मनुष्य की कोई हानि नहीं होती। जगत के मंच पर, कर्म के प्रपंच के बिना, रंचमात्र भी अभिनय-आयोजन नहीं होते।

आत्म-बोध का ऐसा अभय मुझे प्राप्त हो गया था कि अब मुझे किसी से कोई भय नहीं रह गया था। उन दोनों की ओर से सर्वथा निस्पृह और निरपेक्ष, नत नयन, निर्भय, निरुद्विग्न, और मौन, मैं अपने स्थान पर बैठी रही।

वे दोनों पति-पत्नी थे। चट्टान पर आकर मेरे सामने बैठ गये। मुझे लगा कि स्त्री ने मुझे शीश झुकाकर नमन भी किया। सम्भवतः यह मेरे धैर्य और निर्भीकता का प्रभाव रहा होगा। बाद में भीलनी ने बताया था कि उस समय उसने मुझे वनदेवी समझकर प्रणाम किया था।

स्त्री के मन में जो भी रहा हो परन्तु पुरुष की दृष्टि अच्छी नहीं थी। उसमें वासना का विकार था। प्रकृति का यह कैसा वैचित्र्य है दीदी, कि हम नारियों को पुरुष के दृष्टि-निक्षेप मात्र से उनके अभिप्राय का अनुमान हो जाता है। दूर से

ही पुरुष की विकारी दृष्टि पड़ने पर नारी की देह में एक चुभन की अनुभूति होने लगती है। उस क्षण मैं उसी अपमानजनक चुभन का संवेदन कर रही थी।

भील अधिक देर चुप नहीं रह सका। उसने बिना किसी भूमिका के अपना कुत्सित प्रस्ताव मेरे सामने रख दिया–

"हमारे कुल-देवता ने तुम्हें यहाँ भेजा है। सबसे पहले मेरी दृष्टि तुम पर पड़ी है इसलिए तुम पर मेरा अधिकार है। मुझे स्वामी स्वीकारो और हमारे साथ चलो।"

मेरी असहमति भील को अपने पौरुष के अपमान-सी लगी। वह उग्र होने लगा। उसने बलात् मुझे उठा ले जाने की धमकी भी दे डाली। बीच बीच में भीलनी उसे कुछ समझाती-सी लगती थी पर उनकी बोली मैं नहीं समझ पा रही थी। मात्र उनकी चेष्टाओं से ही कुछ अनुमान हो रहा था। इतना निश्चय मुझे हो गया कि हम वैशाली गणतन्त्र से बहुत दूर किसी अन्य देश में हैं। भीलनी के समझाने का एक परिणाम अवश्य हुआ, भील बड़बड़ाता हुआ चट्टान से उतर कर प्रपात की ओर चला गया।

अब भीलनी सरककर मेरे समीप आ बैठी। उसने मुझसे मेरा परिचय जानना चाहा। मैं किस मुँह से कहती दीदी, कि मैं हतभाग्या वैशाली की राजकन्या हूँ ? यह भी तो मुझे ज्ञात नहीं था कि मैं किसी मित्र देश की सीमा में हूँ या वैशाली से शत्रुता रखनेवाले किसी राज्य की धरती पर बैठी हूँ। सही परिचय का परिणाम क्या होगा यह नहीं जानती थी, पर इतना जानती थी कि उससे मेरे माता-पिता के गौरव को ठेस पहुँचेगी, उनकी अपकीर्ति होगी। उस क्षण बिना विचारे जो भी जिभ्या पर आया वही मिथ्या परिचय मैंने उसे बता दिया।

भीलनी ने मुझे जता दिया कि मैं यहाँ सुरक्षित नहीं हूँ। उसका पति मेरे रूप पर लुब्ध है, मुझे प्राप्त करके ही रहेगा। मैं सहमत नहीं हुई तो वह बलात् मुझे उठा ले जाएगा। मुझे उसकी बात मान लेने के सिवा प्राण-रक्षा का कोई उपाय नहीं है।

मैंने भीलनी के सौजन्य का उत्तर सौजन्य सहित किन्तु दृढ़तापूर्वक दिया। अपना संकल्प भी उस पर प्रकट कर दिया कि–

"मैं प्राण दे दूँगी पर अपने शील पर आँच नहीं आने दूँगी। यदि मुझ पर बल प्रयोग का प्रयास किया गया तो मैं वहीं और उसी समय अपने जीवन का

अन्त कर लूँगी। उच्छ्वास-रोध निमिष मात्र में प्राण त्यागने की विधि मुझे ज्ञात है।"

नम्रतापूर्वक सूचित किए गए मेरे दृढ़ संकल्प का भीलनी पर प्रभाव पड़ा। स्वभावतः नारी के मन में नारी के प्रति संवेदना होती ही है। मेरी विपत्ति ने भी उसे कुछ द्रवित किया होगा। उसने मेरे पैरों पर हाथ रखकर कहा—

"बहन ! अपनी चेरी मानकर ही मेरी बात मान लो। मैं तुम्हारे साथ छल नहीं करूँगी। तुम हमारे साथ चली चलो। मेरा पति जो ठान लेता है, उसे करके रहता है। अभी तुम्हें सहमत कराने के बहाने मैंने उससे थोड़ा-सा समय माँगा है। वह किसी भी क्षण आता ही होगा। कुटीर पर चलो, वहाँ उसे समझा-बुझाकर मैं तुम्हारी रक्षा का प्रयास करूँगी। विफल हो जाऊँ तो प्राण त्यागने का कौशल तो तुम्हारे पास है ही। जो तुम्हारे जी में आए सो कर लेना, मैं नहीं रोकूँगी।

"वह बड़ा हठी है, आवेश में उचित-अनुचित का विवेक खो बैठता है। फिर तुम तो इस वन में निपट अकेली हो। यहाँ तुम्हारा रक्षक कौन है ? हम तुम्हें यहाँ छोड़ भी जाएँ तो जिसकी भी दृष्टि तुम पर पड़ेगी वह तुम्हारे साथ यही करेगा। वही तुम्हारा स्वामी हो जाएगा। हमारे वनांचल का यही चलन है, इसे यहाँ अनुचित नहीं माना जाता।

"एक और काम की बात तुम्हें बताती हूँ—यहाँ तुम्हें कोई कितना भी डराये-धमकाये, पर जब तक तुम्हारी सहमति नहीं होगी, कोई तुम्हें विवश नहीं करेगा। हम राक्षसवंशी हैं। हमारे कबीले का अटल नियम है कि यदि किसी पुरुष ने कबीले के बाहर की किसी नारी को बलात् भोगने का दुस्साहस किया तो हमारे पूर्वज रुष्ट हो जाएँगे और उसका वंश नाश हो जाएगा। कबीले का भी अमंगल होगा। इसलिए साहस रखो, धीरज से काम लो और चलो हमारे साथ।

"तुम्हारे लिए मैं कुलदेवताओं की पुष्पार्चना करूँगी, वे अवश्य तुम्हारी रक्षा करेंगे। उनकी कृपा से तुम्हारा अनिष्ट नहीं होगा। तुम हठ मत करो, हमारे साथ चलना स्वीकार कर लो।"

मेरी उस स्वयमागता सहेली का परामर्श पूरा हुआ था कि दूर से उसका पति आता हुआ दिखा। वह स्वयं उठकर उस ओर चली गयी। उन दोनों में कुछ बातें हुईं। मैंने तो रात्रि से ही अपने आपको भाग्य के भरोसे छोड़ दिया था। धैर्यपूर्वक कर्मोदय की लीला देखने का मैंने अपना मन बना लिया था, वैसा साहस भी जुटा लिया था।

भीलनी अकेली लौटी। एक बार फिर उसने मुझे ढाढस दिया। उसका प्रस्ताव मुझे उचित लगा। और कुछ उपाय भी नहीं था। मैंने विवशता में सिर हिलाकर सहमति का संकेत दे दिया। मैं उसकी बातों पर और अपने भाग्य पर भरोसा करके, पार्श्वप्रभु का स्मरण करती, परवश उसके साथ चल दी। प्रायः दो घड़ी में हम अरण्य के बाहर आ गये। मार्ग में गौ वृषभ जैसे पशु और कहीं कहीं भीलों के पर्णावास भी दिखने लगे थे। यह ज्ञात नहीं हो सका कि हम किस जनपथ में वैशाली से कितनी दूर हैं।

5

दूर से ही भीलनी ने अंगुलि निर्देश करके अपनी कुटिया की ओर संकेत किया। उसका पति हमारी प्रतीक्षा में बाहर ही खड़ा था। रस्सी से बँधा बलि पशु जैसी विवशता में बलिपीठ तक जाता है, वैसी ही विवश होकर, भीलनी द्वारा खींचे जाने पर, मैंने उस कुटीर में पग रखा। मुझे कुश आसन पर बिठाकर वह एक मृद् भाण्ड में जल ले आयी। मैंने अनिच्छा जताते हुए पात्र सामने से हटा दिया और व्यग्र होकर कल्पना के वातायन से भविष्य की विभीषिका में झाँकने का प्रयास करने लगी।

आधी घड़ी में ही पति-पत्नी आकर मेरे सामने बैठ गये। भील बार-बार मुझे बहलाने-फुसलाने और धमकाने की चेष्टा करता रहा। उसने मुझे भय भी दिखाये और जो कुछ वह शब्दों से नहीं कह पाया वह उसके निष्ठुर भावों और अभद्र संकेतों ने मेरी चेतना तक पहुँचा दिया। भीलनी बहुत कम बोली। वह भी पति के प्रस्तावों का समर्थन ही करती रही।

बीच-बीच में जब भील मुझ पर बल प्रयोग की धमकी देता तब अवश्य उस स्त्री के मुख पर विद्रूपता भरी मुसकान की एक रेखा आ जाती थी जिसे वह कुटिलतापूर्वक अपने पति की दृष्टि से छिपा लेती थी। उसके मुख पर आती वही वक्र रेखा मेरे धैर्य का आधार बन जाती थी। उसका अर्थ था कि मेरे साथ बलात् कुछ भी घटित नहीं होगा। फिर भी मैं हर प्रकार की अप्रिय परिस्थिति का सामना करने के लिए प्रतिपल सावधान थी।

मैंने सिर हिलाकर असहमति का अपना मन्तव्य जता दिया। उस समय मेरा संकल्प ही मेरा सम्बल था इसलिए मैं आशंकित होकर भी भीत नहीं थी।

मध्याह्न में एक बार पुनः मुझे समझाने और धमकाने का वह पूरा दृश्य दोहराया गया। इस बीच भील के पराक्रम का समाचार पाकर आस-पास की कुछ स्त्रियाँ किसी-न-किसी बहाने, मुझे देखने के लिए उस कुटिया की परिक्रमा कर गयीं।

एक-दो पुरुष भी उस अभिप्राय से आये परन्तु भीलनी ने उस दिन किसी

को अपनी कुटिया की लक्ष्मण रेखा लाँघने नहीं दी। उस स्त्री पर अविश्वास करने का मेरे पास कोई कारण नहीं था। लगता था मेरी दुर्भाग्यपूर्ण दयनीय परिस्थिति ने उसे द्रवित कर दिया था। अपनी गृहस्थी में कलह बचाते हुए जितना बन सके, वह मेरी रक्षा का प्रयास करना चाहती थी। मेरी प्राणहानि का निमित्त वह नहीं बनना चाहती थी।

सायंकाल भील बाहर चला गया। अब मदिरा के प्रभाव में बहकता आधी रात को लौटेगा। भीलनी को खुलकर बातें करने का अवसर मिल गया। वह मेरे पास आकर बैठ गयी। उसने पति को बता दिया था कि मेरा निर्णय अटल है और मैं किसी भी दशा में किसी की भोग्या नहीं बनूँगी। उसने यह भी जता दिया था कि मुझ पर बल प्रयोग करनेवाले को मेरी निष्प्राण देह मिलेगी, मैं नहीं मिलूँगी।

भीलनी ने बताया कि मेरी दृढ़ता ने उसके पति को निराश तो कर दिया परन्तु इस निराशा से उसके भीतर दूसरा विकार उत्पन्न हो गया है। वह मान रहा है कि मैं उसके अधीन, उसी की सम्पत्ति हूँ। वही मेरा स्वामी है। यदि मैं उसे स्वीकार नहीं करती हूँ तब भी वह मुझे मुक्त नहीं करेगा। मेरा विक्रय करके वह अपनी विफलता का बदला चुकाएगा और कुछ स्वर्ण भी अर्जित कर लेगा।

भीलनी के मुख से अपनी दुर्दशा की यह नवीन आशंका जानकर एक बार फिर मेरा साहस टूटने लगा। उस शीत रात्रि में भी मेरे माथे पर स्वेद बिन्दु झलक आये। दीदी ! मुझे लगा मैं अपने दुर्भाय के सामने अधिक देर टिक नहीं पाऊँगी। मैं हार जाऊँगी। विक्रेता और क्रेता की स्वार्थपूर्ति के लिए कौन जाने मैं किस कुम्भीपाक में डाल दी जाऊँगी। क्या यह आशंका ज्ञात हो जाने पर भी मुझे जीवित रहना चाहिए ? सब कुछ जानकर भी अपने आपको किसी अज्ञात नरकाग्नि में झोंक देना बुद्धिमानी होगी क्या ? यह तो दुस्साहस होगा।

कल उगने वाला सूर्य मेरे शील के चन्द्रमा पर खग्रास ग्रहण का साक्षी बनेगा। नहीं, मैं नहीं देखूँगी कल का सूर्योदय। नहीं जीना मुझे ऐसी भयानक विभीषिका के बीच। इस समय मरण ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

दीदी ! मैं अधीर हो गयी। मेरे कण्ठ से चीख निकल गयी। नहीं, चीख निकलते-निकलते रह गयी। मैंने बलपूर्वक उसे कण्ठ में ही रोक लिया। मेरा मन रो रहा था, पर तन तो विवश था, वह खुलकर रो भी नहीं सकता था। कौन जाने मेरा क्रन्दन सुनकर किस घड़ी कौन कहाँ से आ जाए और मेरे साथ क्या कर बैठे ? परन्तु दीदी ! मानसिक पीड़ा के उस दुर्वह वेग को रोक पाना भी मेरे लिए

सम्भव नहीं हुआ। उसके आवेग में मैंने अपना मस्तक पूरे जोर से भीत पर मार लिया। पीड़ा के मारे मैं बिलखने लगी।

इतना कहते कहते चन्दना फफक कर रो पड़ी। मृगावती की आँखों से भी अश्रुधार बह चली। वे बहन को बाँहों में भरकर सान्त्वना देने लगीं—

"अधीर मत हो चन्दन ! वह एक भयानक दुःस्वप्न था, बीत गया। अब जागने पर उसका भय कैसा ? रुको मत चन्दना ! आज अपनी हर अनुभूति को अभिव्यक्ति देकर साकार कर दो। एक दिन तुम्हारी यह व्यथा पुराणों की कथा बनेगी। सहस्राब्दियों तक लोग उससे साहस और दृढ़ता का सन्देश पाते रहेंगे। विपदा का प्रतिकार करने और अडिग बने रहने की प्रेरणा लोक को तुम्हारे चरित्र से मिलेगी। कहो आगे क्या हुआ ?"

वह दुःस्वप्न नहीं था दीदी ! मेरा भोगा हुआ यथार्थ था। फिर मुझे कुछ भी स्मरण नहीं, मैं बेसुध हो गयी या मुझे निद्रा ने घेर लिया। कितनी घड़ियाँ बीत गयी होंगी जब मैंने अपने आपको ऊँचे कोट-कंगूरों से घिरे एक उद्यान में खड़े पाया। वहाँ महाविटप के नीचे एक क्षीणकाय नारी शोकमग्न बैठी थी। उसके चारों ओर अशोभन आकृति वाली प्रतिहारियों का घेरा था।

उस निरीह नारी को देखकर लगता था जगत का सारा विषाद समेट कर, उसी उपादान से विधाता ने अवसाद की वह मूर्ति गढ़ी होगी। उस निर्जीव-सी नारी को देखकर, प्रथम दृष्टि में मृत्तिका-मूर्ति का ही भ्रम होता था। क्षण-क्षण पर मुख से निकलते दीर्घ शीतोच्छ्वास ही उसके जीवित होने का बोध कराते थे, चेतना का अन्य कोई लक्षण उस देह में दिखाई नहीं देता था।

अचानक सारे उपवन में हलचल मच गयी। लगा जैसे भूडोल ही आ गया हो। सेवक-सेविकाओं के समूह अपने आपको व्यवस्थित करने में व्यस्त हो गये। भयानक छवि वाला उनका भूधराकार महाराजा उद्यान का भ्रमण करके हमारे सामने से ही वापस जा रहा था। उसकी डारावनी छवि देखते ही पहचान गयी कि मैं लंका की अशोक-वाटिका में सीता माता के सामने खड़ी हूँ। यह मैं किस नयी विपत्ति में फँस गयी ? मैं भय से थर-थर काँपने लगी। मैंने एक बार पुनः अपने आराध्य को पुकारने का प्रयत्न किया परन्तु मेरी पुकार रुद्ध होकर रह गयी।

उसी छटपटाहट में मेरी निद्रा भंग हुई। सावधान होने पर अनुभव हुए स्वप्न की भयावहता से मेरी देह स्वेद-सिक्त हो रही है, मैं अब भी काँप रही थी। फिर मुझे आभास हुआ जैसे स्वप्न में भगवती सीता मुझसे ही कुछ कह रही हैं—

'देख लिया पुत्री !
मैंने छह मास ऐसी विभीषिका की छाया में बिताये
तब भी साहस नहीं छोड़ा था।
धैर्य और धर्म मेरी रक्षा करते रहे।
तुम एक दिन में ही अधीर हो रही हो ?
तुम किसी प्रकार मुझसे दुर्बल नहीं हो।
तुम भी वैसी ही अनन्त बलवती आत्मा हो।
उस चिरन्तन अकम्प ज्योति का स्मरण करो,
उसी से तुम्हें प्रकाश मिलेगा, मार्ग सूझेगा।
संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं चन्दना,
जो कर्मोदय के सुख-दुख भोगने से बचा हो।
जो कर्मफल भोगते समय क्लेशित हो जाते हैं
वे भविष्य के लिए अधिक दुष्कर्म बाँध लेते हैं।
परन्तु जिन्होंने कर्म के रहस्य को समझ लिया,
वे उदय को समता से भोगते हैं।
कर्म का भार घटाने का यही उपाय है।
साहस रखो और वही उपाय अंगीकार करो।
मानव पर्याय कठिनता से मिलती है।
इसे कषायों के आवेग में नष्ट करना उचित नहीं।
आत्मघात तो परघात से बड़ा पातक है,
वह पाप कभी मत करना चन्दना !'

मैं इस अन्धकार में मार्ग दिखाने के लिए सीता माता के प्रति कृतज्ञता से भर उठी। मुझे लगा कितनी दयालु हैं ये देवी, उस युग में श्रीलक्ष्मण और रावण के जीव को सम्बोधन करने रौरव-भूमि तक गयी थीं, आज मेरे भीतर बोल रही हैं।

अब तक मेरी तन्द्रा दूर हो चुकी थी। मुझे स्मरण आया, एक बार हमारे उपवन में आर्यिका संघ का आगमन हुआ था तब महासती सीता का जीवन-वृत्त उन्होंने हमें सुनाया था। माता सुभद्रा भी सीता, अंजना और मैनासुन्दरी की कथाएँ बार बार हमें सुनाती थीं। मैंने हाथ जोड़कर सीता माता को प्रणाम किया और पार्श्व प्रभु को स्मरण करके होनहार का सामना करने के लिए सन्नद्ध होकर बैठ गयी।

मैं एक बार पुनः वर्धमान महामुनि का स्मरण करने लगी। उस सौम्य वीतराग छवि का ध्यान आते ही मेरे सन्तप्त मन का सारा ताप जुड़ा जाता है। सारी पीड़ा विलोपित हो जाती है। अभी तक तो उनके दर्शन से ही अनुराग था, पर अब मैं उनकी कृपाकांक्षिणी बन गयी थी। संसार का जैसा कुत्सित रूप दो दिन में मेरे सामने उजागर हुआ है, उसे देखकर अब जगत लीला में मेरे लिए कोई रस, कोई आकर्षण शेष नहीं रह गया था।

मैं अनाथ भटक रही हूँ।
वे अनाथों के नाथ ही अब मेरा उद्धार करें।
कब मिलेगी मुझे उनकी कृपा की कोर ?
कब लेंगे वे परम कृपालु मुझे चरणों की शरण में ?

इस प्रकार भगवत-आराधना में मैंने वह पूरी रात्रि बिता दी।

6

सहसा कुटिया का द्वार टालकर भीलनी आयी और मेरे पास बैठ गयी। बिना भूमिका के उसने अपना मनोगत शब्दों में बाँधकर बिखराना प्रारम्भ किया—

"तुम बहुत हठीली हो बहिन ! तुम्हारे हित की बात कहती हूँ पर तुम सुनती ही नहीं। नारी की सृष्टि तो पुरुष के लिए ही हुई है। पुरुष के बिना उसके जीवन का कोई अर्थ होता है क्या ? मेरा पति बुरा नहीं है। वह तुम पर आसक्त है, यदि तुम चाहो तो हमारे साथ सुखी होकर रह सकती हो। मैं इसकी तीसरी पत्नी हूँ। हम तीनों दो वर्ष साथ रहे। फिर बड़ी एक दिन किसी वनपशु का ग्रास बन गयी, छोटी कुछ समय पूर्व इसे छोड़कर चली गयी। अब तुम चाहो तो हम दोनों मिलकर रह लेंगे। यहाँ मेरे साथ तुम्हें कष्ट नहीं होगा। यहाँ तो हर कुटिया में तीन-चार का निर्वाह होता है। यही हमारे कुलदेवता की आज्ञा है।"

मैंने नम्रतापूर्वक उसके हितोपदेश का आभार मानकर दृढ़तापूर्वक अपना निर्णय भी दोहरा दिया—

"जो मेरी देह को हाथ लगाएगा वह मुझे पाएगा नहीं, मेरा निष्प्राण शरीर ही पा सकेगा। मेरे संस्कार दूसरी तरह के हैं। मैं अपने कुल की रीति निभाऊँगी।"

भीलनी ने समझ लिया होगा कि मैं अपनी हठ छोड़ने वाली नहीं हूँ। उसने कुछ-कुछ निराशा और रोष के साथ अपने पति के निर्णय की घोषणा की—

"जैसा तुम्हें अच्छा लगे वैसा ही करो, पर एक बात जान लो ! मेरे पति ने तुम्हें पाया है सो वह ऐसे छोड़नेवाला नहीं है। मैंने उसे समझाने का प्रयास किया परन्तु उसका कोई फल नहीं निकला। उसने निश्चय किया है कि यदि उसे तुम्हारा तन नहीं मिल पाया, तो तुम्हारे विनिमय से वह स्वर्ण प्राप्त करेगा। उत्तर पाने पर आज ही तुम्हें विक्रय हेतु हाट में ले जाने की व्यवस्था है।"

मैंने बिना किसी प्रतिरोध के यह विकल्प स्वीकार कर लिया। प्रतिरोध करने का कोई अर्थ भी नहीं था। हाट में जो मुझे क्रय करेगा, हो सकता है वह सर्वथा राक्षस न हो। भाग्य का लिखा सामने आएगा तभी विचार करूँगी कि मुझे क्या करना है। मैंने अपना संकल्प भीलनी को जता दिया। वह पति को उसकी सूचना

देने चली गयी।

कुछ ही समय में फल और जल से भरा सकोरा लेकर भीलनी फिर वहाँ आयी। सामने रखकर मुझसे ग्रहण करने का आग्रह किया। मैंने अनिच्छापूर्वक वह सब परे हटा दिया और उस कृपा के लिए उसका आभार माना।

इस बीच मैंने लक्ष्य किया, मेरे आभूषण भीलनी को लुभा रहे थे। प्रातःकाल से ही वह ललचाई दृष्टि से बार-बार उन्हीं की ओर देख रही थी। मैंने एक एक कर सारे आभूषण उतारे और उसे दे दिये। अब मैं दासी-पण्य में विक्रयार्थ प्रस्तुत होने जा रही थी, वहाँ दासियों का विनिमिय होता है, राजकुमारियों का नहीं। दासी की देह पर न आभूषणों का गौरव बढ़ने वाला है, न दासी का मान।

थोड़ी ही देर में भील अपने प्रमुख को साथ लेकर आ गया। दोनों ने एक बार पुनः मुझे समझाने-धमकाने का प्रयास किया। मुखिया ने यह भी बताया कि उसकी माता ने विरोध नहीं किया होता तो वह मुझे किसी भी प्रकार यहाँ से जाने नहीं देता।

अब वे दोनों अपनी असफलता से क्षुब्ध मुझे दासी बनाकर बेचने के लिए उतावले हो रहे थे। बिना किसी विलम्ब के वे उसी समय मुझे दासी-पण्य ले जाने के लिए सन्नद्ध थे। भीलनी ने एक प्रच्छन्न पीड़ा के साथ संकेत किया और मैं उनके साथ चलने को प्रस्तुत हो गयी। उन दोनों ने एक वृद्ध पुरुष को और साथ ले लिया जो सम्भवतः विनिमिय-विशेषज्ञ रहा होगा। उसने आते ही एक तटस्थ-सी दृष्टि डालकर मेरे शरीर के मोल का अनुमान लगा लिया, सन्तुष्टि से सिर हिलाया और मुखिया के साथ आगे आगे चलने लगा। मुझे मध्य में चलने का आदेश हुआ। भील मेरी चौकसी करता पीछे चल रहा था।

सँकरी वन-वीथिकाओं पर प्रायः दो घड़ी तक चलकर हमने एक नदी पार की। नौका पर लोग वार्तालाप कर रहे थे उससे ज्ञात हुआ कि हम यमुना पार कर रहे हैं और कौशाम्बी हमारा गन्तव्य है।

कौशाम्बी नाम सुनते ही मेरे मन में नयी आशा का संचार होने लगा। यह तो मेरी मृगावती दीदी के राज्य की राजधानी है। यहीं तो उनका निवास है। मुझे लगा अब मेरी सारी विपत्तियों का अन्त आ गया है। राजमहल तक समाचार पहुँचने की देर है, फिर मेरा उद्धार करने मेरी दीदी स्वयं हाट में आने में भी संकोच नहीं करेगी। उदयन तो जैसा खड़ा होगा वैसा ही अपनी छोटी मौसी के लिए दौड़ा चला आएगा। कौशाम्बी के प्रतापी नरेश दण्डित करेंगे इन दुष्टों को।

अब मेरा भर दुख दूर नहीं होगा, वैशाली पर से भी दुख के बादल छँट जाएँगे। कितनी हर्षित होंगी माता सुभद्रा मेरी कुशलता का समाचार पाकर !

सच दीदी ! एक क्षण में ही मैंने यमुना की लहरों पर डोलती उस नौका पर आशाओं-कल्पनाओं का सप्तखण्ड महल बना लिया। अब राजमहल तक समाचार पहुँचाना ही मेरी एकमात्र समस्या रह गयी थी। किसी प्रकार उतना हो गया तो तत्काल सब ठीक हो जाएगा। मैं उसी का उपाय ढूँढ़ने में लग गयी।

यमुना तीर से कौशाम्बी तक मेरी कल्पनाएँ तीव्र गति से दौड़ती रहीं। कौशाम्बी पहुँचने के पूर्व कई बार कल्पना-रथ पर मैंने इस नगर की यात्रा कर डाली। जब चली थी तब अनजाने नगर तक आना मेरे लिए नितान्त अरुचिकर था। हाट मुझे वधस्थल-सा लगता था जहाँ मैं बलिपशु-सी विवश, बलात् खींचकर ले जायी जा रही थी। पर अब कौशाम्बी मुझे त्राणदाता लगने लगी थी। मैं वहाँ पहुँचने के लिए अधीर हो रही थी। सोचती थी शरीर में पंख होते तो उड़कर ही कौशाम्बी की धरती पर उतरती।

7

हमने कौशाम्बी के दासी-पण्य में प्रवेश किया तब तीन प्रहर दिन बीत चुका था। यात्रा की क्लान्ति और तपते सूर्य की उष्णता ने मुझे निढाल कर दिया था। हाट लग चुकी थी और वे लोग यथाशीघ्र मेरा मूल्य प्राप्त करके लौटना चाहते थे। अकस्मात् मेरे किसी परिचित या सहायक के मिल जाने की आशंका उन्हें त्रस्त कर रही थी। हाट में मुझे एक चबूतरे पर खड़ा कर दिया गया। आस-पास विक्रय के लिए लायी गयी अनेक अभागिनी स्त्रियाँ वहाँ पहले से उपस्थित थीं।

मैंने पहली बार ऐसी हाट देखी थी जहाँ पशुओं की तरह मनुष्यों का क्रय-विक्रय होता था। कभी सुना था वैशाली में भी यह सब होता है, पर देखने का अवसर नहीं आया था। लोग देख-परखकर अपनी सेवा के उपयुक्त दासियों का मोल-भाव कर रहे थे। कहीं कहीं बोली लगाकर क्रय-विक्रय हो रहा था। कई क्रेता तो दासियों की देह के अवयव टटोलकर उनकी आयु और दैहिक क्षमताओं का आकलन करके दाम लगा रहे थे। मैं चकित थी कि नारी को जननी, रमणी और दुहिता के रूप में देखने वाले समाज ने हाट में खड़ा करके उसका यह कौन-सा रूप रच लिया है ?

मुझे आश्चर्य हुआ कि उन क्रेताओं में अनेक स्त्रियाँ भी थीं। वहाँ मनुष्य के नाते हम सबकी अस्मिता खो गयी थी। लगता था हम मनुष्य नहीं, मात्र निष्प्राण भौतिक वस्तुएँ हैं। हमारी दुर्दशा में रस लेनेवाले कौतुकी जनों की संख्या भी वहाँ कम नहीं थी। उनकी लोलुप दृष्टियाँ मेरे तन-वदन में कण्टक-सी चुभ रही थीं। उनके दाहक व्यंग्य-वाक्य पिघले शीशे की तरह कानों में दारुण दाह उत्पन्न कर रहे थे। हे भगवन, यह किस नरक में आ गिरी हूँ मैं ? क्या लिखा है मेरे भाग्य में ?

सहायता का एक मात्र अवलम्ब, कौशाम्बी का राजमहल एक बार फिर मुझे स्मरण आया। मैं तुमसे अधिक दूर नहीं थी दीदी ! पर उसी समय एक दूसरा विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ—

मैं सोचने लगी—लोक देखेगा कि राजमहिषी की सहोदरा दासी के रूप में

बिकने के लिए हाट में खड़ी है, उसके लिए बोली लगायी जा रही है, तब तुम्हारे मान-सम्मान और तुम्हारे जन्मजात आभिजात्य का क्या होगा ? कैसी कैसी चर्चा फैलेगी तुम्हारे कुल के बारे में ? क्या क्या गर्हित नहीं सुनना पड़ेगा हमारे उदयन को ?

मैंने पूछा अपने आपसे—केवल अपने अहित को टालने के लिए अपनी दीदी के मान-सम्मान को खण्डित करने वाला मार्ग ग्रहण करूँ यह कैसे और कहाँ तक उचित होगा मेरे लिए ?

मैंने फिर विचार किया—वैशाली की राजकुमारी के रूप में अपने-आप को प्रकट कर देने पर क्या मेरी वैशाली के गौरव को हानि नहीं पहुँचेगी ? ऐसा करके क्या माता सुभद्रा को, अपने आराध्य वर्धमान महामुनि की जन्मदात्री महारानी त्रिशला प्रियकारिणी को और मगध की राजमहिषी चेलना को भी लोकापवाद के पंक में ढकेल देना क्या मेरे लिए उचित होगा ?

मेरी ही अन्तर्ध्वनि मुझे सुनाई दी—'तू तो अपने दुष्कर्मों का फल भोग रही है चन्दना ! परन्तु उसमें इन सबका क्या अपराध ? गत जन्मों में तूने किसी का अपराध किया होगा जिसका फल तुझे मिल रहा है। अब इतने जनों की अपराधिनी बनी तो आगे के लिए कैसे-कैसे कर्म बाँधेगी अपने लिए ?'

तब मैंने अपने आपको आदेशित किया—

नहीं, नहीं चाहिए मुझे किसी की सहायता।
मेरे प्रभु ही अब मेरे एक मात्र सहायक हैं।
जो त्रिलोक की पीड़ा हरण करने वाले हैं,
वही मेरी पीड़ा का निवारण करेंगे।

मैं इसी ऊहापोह में खोई खड़ी थी। अब तक मेरा ध्यान नहीं गया था। सामने भारी आभूषणों से लदी, मुँह में ताम्बूल का आस्वाद लेती, एक अधेड़ वाचाल महिला रुचि लेकर मेरी देह का निरीक्षण-परीक्षण कर रही थी। लोगों की चर्चा पर ध्यान गया तब मुझे ज्ञात हुआ कि वह कौशाम्बी की कोई बड़ी गणिका है। वैसी ही एक-दो और महिलाएँ भी मेरी ओर निहारतीं वार्तालाप कर रही थीं।

"इस नवोढ़ा के लिए एक सहस्र स्वर्ण।"

उस स्थूलकाय महिला ने मेरी बोली लगायी। तत्काल एक अन्य महिला ने उसे चुनौती दी—

"बारह सौ स्वर्ण।"

और फिर वे दोनों एक-दूसरे पर बोली बढ़ाती गयीं। इस प्रकार मेरा दाम तीन सहस्र स्वर्ण मुद्राओं से भी ऊपर पहुँच गया। अब दूसरी महिला चुप हो गयी थी। वह अधिक मोल बढ़ाने का साहस नहीं कर पा रही थी।

समुदाय में से किसी ने भील को परामर्श दिया—

"यह तो बहुत अधिक दाम मिल रहा है, हाट की सबसे बड़ी बोली लगी है तेरे 'माल' के लिए, अब तो दे देना चाहिए।"

भील कुछ भी बोल पाता इसके पूर्व, सबको चौंकाती एक गर्वीली बोली वहाँ गूँज उठी—

"इस कन्या के लिए पाँच सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ, ...यहीं और इसी समय।"

"है...कोई और...बढ़ाने वाला ?"

एक साथ शतशः नेत्र उस बोली लगानेवाले की ओर उठे। मेरे दो नेत्र भी हठात् उनमें सम्मिलित हो गये। श्वेत अश्वों वाले सुन्दर रथ पर सवार वह एक भद्र पुरुष दिखाई देता था। उसके मुख पर सौजन्य और आभिजात्य के भाव झलकते थे। कानों के पीछे केशों की शुभ्रता उसकी वरिष्ठता का घोष कर रही थी। उसके नेत्रों में पवित्रता और सहानुभूति की झलक थी।

न जाने क्यों मुझे विश्वास हो गया कि वह इस हाट का व्यवसायी नहीं है। जिनके मध्य से बोल रहा है, वह उन सबसे पृथक कोई सहृदय और कुलीन व्यक्ति है। मुझे ऐसा लगा जैसे कोई देवदूत मेरा उद्धार करने के लिए उस विपत्ति काल में प्रकट हो गया है।

वे दोनों महिलाएँ कुछ अनर्गल प्रलाप करतीं वहाँ से चली गयीं।

स्वामी का संकेत पाकर सेवक ने सहस्र-सहस्र मुद्राओं की पाँच थैलियाँ रथ से निकाल कर विक्रेता को सौंप दीं। आशातीत मोल पाकर भील तो निहाल हो गये थे। उनकी प्रसन्नता छिपाये नहीं छिप रही थी। भद्र पुरुष का अभिवादन करके हाट से पलायन करने में उन्होंने एक क्षण का भी विलम्ब नहीं किया।

वे भद्र पुरुष रथ से उतरे और कुछ समीप आकर शालीनता के साथ, लगभग आदेश भरे स्वर में उन्होंने मुझे सम्बोधित किया—

"आओ पुत्री ! मेरे साथ रथ पर बैठो।"

'पुत्री' सम्बोधन सुनकर मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे सन्तप्त हृदय पर किसी ने अमृत-सिंचन कर दिया हो। उनके आदेश में स्वामित्व का अहंकार नहीं, ममता

की मिठास घुली हुई थी। फिर भी मैं सहसा कुछ निर्णय नहीं कर पायी।

क्या क्रीत दासी को स्वामी के साथ रथ पर बैठना उचित होगा ?

मेरे असमंजस का अनुमान करके उन सज्जन ने अपने काँधे से कौशेय पट उतार कर मुझे दिया जिसे मैंने उनकी कृपा की तरह ओढ़ लिया। फिर उनके संकेत का अनुसरण करती मैं रथ पर एक ओर सिमट कर जा बैठी।

स्वामी के बैठते ही रथ द्रुत वेग से राजपथ पर दौड़ने लगा।

8

रथ एक भव्य भवन के सामने रुका। द्वारपाल ने बढ़कर द्वार खोला और हम भवन में आ गये। वह सारा परिदृश्य मेरे मन में तरह तरह की शंका-कुशंकाएँ उत्पन्न कर रहा था, पर गृहस्वामी के मुख से उच्चरित 'पुत्री' शब्द मुझे आश्वासन दे रहा था। मैं जानती थी कि उस शब्द का उच्चारण बुद्धि से नहीं, हृदय से हुआ था। उसकी सार्थकता पर शंका करने का मेरे पास कोई कारण नहीं था।

"यमुना कहाँ है ?"

गृहस्वामी के प्रश्न के उत्तर में एक वृद्धा कक्ष में आयी। उन्होंने मेरी ओर संकेत करके उससे कहा—

"यमुना ! यह भी अब तुम्हारे साथ रहेगी। इसके भोजन विश्राम का तुम्हें ध्यान रखना है।"

यमुना ने सिर नवाकर स्वामी की आज्ञा के प्रति सम्मान जताया, फिर हौले से हाथ का सहारा देकर मुझे अपने साथ ले आयी।

भवन के पिछवाड़े दासियों के आवास थे। छह दासियों में यमुना वरिष्ठ थी। सातवीं दासी के रूप में उन बाँदियों ने मेरा स्वागत किया। मैं सोचने लगी—वैशाली में सात बहनों में सबसे कनिष्ठ थी, मेरा वह कनिष्ठा पद आज भी सुरक्षित था। मेरे भाग्य में तीन ही दिनों में वैशाली की छोटी राजकुमारी को इस घर की छोटी दासी के पद पर बिठा दिया है। कर्मों की माया सचमुच विचित्र है।

जो कमा कर लायी हूँ वह तो भोगना ही पड़ेगा। ऋण मैंने लिया होगा तो अब चुकाना भी तो मुझे ही पड़ेगा न !

"अपना नाम तो बताओ बेटी ! उठो, हाथ-मुँह धोकर कुछ खा लो। कोई चिन्ता मत करो। हमारे स्वामी बड़े दयालु हैं। इस घर की दासियों को भोजन-वस्त्र आदि का कोई कष्ट नहीं होता। काम का बोझ भी अधिक नहीं है।"

मैंने दृष्टि उठाकर ऊपर देखा। वही वृद्धा सामने खड़ी बोल रही थी।

मैंने पहली बार यमुना को ध्यान से देखा। सफेद बालों के बीच उसका मुख

आयु की नहीं, शायद अनुभव की झुर्रियों से भरा था। उसकी भावहीन दृष्टि भीतर के सूनेपन का परिचय देती थी। भवन की पुरानी दासी होने के कारण शेष दासियों पर उसका आदेश चलता था। सब उसे 'मौसी' कहते थे।

मौसी हाथ में जलपात्र लिये खड़ी थी। उसकी आँखों में निश्छल स्नेह की छाया थी। उनमें झलकता मातृत्व का भाव मुझे अनकहा आश्वासन सा लगा। उसने स्वामी का नाम बताया—'नगर सेठ वृषभसेन और सेठानी भद्रा।'

आँगन में हाथ-पैर धोकर जब मैं लौटी तब तक यमुना मौसी ने मेरे लिए कुछ खाद्य पदार्थ लाकर रख दिये थे। आग्रह करके, एक प्रकार से आदेश देकर, उसने कुछ खाने के लिए विवश कर दिया। उपवन क्रीड़ा के लिए निकलते समय माता ने आग्रहपूर्वक जो मोदक खिलाये थे, उसके बाद आज तीसरे दिन मैं मुँह में अन्न डाल रही थी।

गृहस्वामिनी का दर्शन सन्ध्या समय हुआ। स्वामी भी वहाँ उपस्थित थे। स्वामिनी ने मेरे माता-पिता, जन्म-स्थान आदि के बारे में जानना चाहा, पर उनकी जिज्ञासा का समाधान मैं नहीं कर पायी। इस बीच मेरी आँख भर आयी होगी जिसे देखकर उन्होंने अधिक जोर नहीं दिया।

अन्त में कुछ अधिक कृपा जताते हुए उन्होंने मुझसे कहा—

"तुम्हारे स्वामी ने देख-परख कर तुम्हें पसन्द किया होगा। निश्चिन्त रहो, अब यहाँ तुम्हें आराम मिलेगा, कोई कष्ट नहीं होगा।"

यमुना मौसी ने हमारे कर्तव्य समझाये और हमें कोठरी तक पहुँचा दिया। फिर देर तक हम सब आपस में बतियाते रहे। रात को यमुना मौसी एक बार फिर मेरे पास आयीं। लम्बी कष्टपूर्ण यात्रा की क्लान्ति और मौसी की संवेदना भरी बातों के मिले-जुले प्रभाव ने मुझे शीघ्र ही निद्रा-लोक में पहुँचा दिया।

यदि दासत्व से उपजी मानसिक पीड़ा को छोड़ दिया जाए तो नगर सेठ के यहाँ दासी की दिनचर्या कष्टप्रद नहीं थी। सबके काम प्रायः निश्चित थे। पति-पत्नी दो का ही परिवार था, सन्तान पाने की उनकी अभिलाषा अतृप्त रह गयी थी। घर में सम्पत्ति अपार थी, भोगनेवाला कोई नहीं था।

मौसी बताती थी कि इस घर में दासियों के प्रति दया का व्यवहार होता है। कई घरों में तो उनके साथ पशु की तरह निर्दयता का बर्ताव किया जाता है।

मैंने तो कल ही अपने-आप को भाग्य के भरोसे छोड़ दिया था। आज सेठ

की शरण में पहुँचकर कुछ और आश्वस्ति का अनुभव हुआ। मेरे तन-मन को वेधनेवाले कामुक दृष्टियों के शूल यहाँ नहीं थे। अप्रिय तथा पीड़ा देनेवाले वचनों की बौछार भी यहाँ मुझ पर नहीं पड़ रही थी। जो भी भाग्य में था उसे मैं चुपचाप भोग रही थी। यथा अवसर प्रभुनाम का स्मरण करके अपने आपको धैर्य भी दिला लेती। वर्धमान महामुनि के स्मरण से निमिष भर को शान्ति प्राप्त कर लेती थी। परन्तु कुछ दिनों में ही ज्ञात हो गया कि अभी मेरे दुर्भाग्य का अन्त नहीं आया था। मुझे कुछ पीड़ाएँ भी भोगनी थीं।

सुना करती थी, जब अशुभ कर्म का उदय आता है तब मित्र भी शत्रुवत् व्यवहार करने लगते हैं, जिनसे सुख मिलता था वही हमारे दुख के निमित्त बन जाते हैं। आज यह तथ्य मेरे लिए भी सही सिद्ध हो रहा था। विडम्बना यह थी कि मेरा शत्रु कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था, मेरा ही शरीर आज मेरा बैरी बन रहा था। देह की कुरूपता से तो सारा जग दुखी होता है, पर मेरे लिए तो मेरा रूप-सौन्दर्य ही नित नवीन विपत्तियों और नये-नये दुःखों का निमित्त बन रहा था।

मेरी युवावस्था और रूप को देखकर स्वामिनी के मन में आशंकाओं के अंकुर उपजने लगे। मैं तो उनके लिए अज्ञात कुलशीला, दाम देकर लाई गयी दासी थी, पर उनका पति तो उन्हें अपरिचित नहीं था। वह तो जाना-माना, सदाचारी साधु पुरुष था। मैं सोच भी नहीं पाती कि जो मुझे 'पुत्री' कहकर इस घर में लाये थे, उन्हीं भद्र पुरुष के लिए उनकी जीवन-संगिनी के मन में ऐसे कुत्सित और निराध ार विचार कैसे आये होंगे ? क्या मेरा दुर्भाग्य दूसरों के लिए भी लांछन का कारण बन सकता है ?

मुझ जैसी अभागिनी को वेश्या के हाथ से बचाकर घर में शरण देना, या मेरी विपत्ति से द्रवित होकर पुत्री की तरह मेरी कुशल कामना करना, क्या यही उस महापुरुष का अपराध बन रहा था ?

जो भी हो, मौसी से पता लगता रहता था कि भद्रा सेठानी को इस घर में मेरा आना अच्छा नहीं लगा था। उनके पति ने मेरी रूपमाधुरी पर मुग्ध होकर, अपनी वासना पूर्ति के लिए ही मुझे इतनी सारी स्वर्ण-मुद्राएँ देकर क्रय किया होगा, यह क्लिष्ट कल्पना भद्रा सेठानी के मन में आयी और अब धीरे-धीरे उनकी धारणा में परिणत होने लगी थी।

स्वामिनी की तीक्ष्ण शंकालु दृष्टि हर पल हमारे व्यवहार की चौकसी करती रहती। कई बार अपने पति से वे अकारण रुष्ट होकर झगड़ने लगतीं और कभी-कभी अपशब्दों का प्रयोग भी कर बैठती थीं। उनकी द्विअर्थक अभद्र

शब्दावली स्वामी का हृदय तो वेधती ही होगी, मुझे भी उससे मर्मान्तक पीड़ा पहुँचती थी।

स्वामी सन्त स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी कोमलता के लिए नवनीत की उपमा फीकी सिद्ध होगी। नवनीत जब स्वयं तप्त होता है तभी पिघलता है, किन्तु सेठ वृषभसेन का हृदय दूसरे के ताप से द्रवित हो रहा था। वे किसी को दुखी नहीं देख सकते थे। मौसी सदा उनकी दयावृत्ति का गुणगान करती रहती थी।

ऐसे महान व्यक्ति के चारित्र पर सन्देह, विधि की विडम्बना ही थी।

सन्तति का अभाव स्वामी को सदा दुखी किए रहता था। शायद यह उनके मन की उसी रिक्तता का फल था कि उन्होंने 'पुत्री' कहकर मेरा उद्धार किया। मुझसे वार्तालाप करते समय उनका पितृ-भाव दर्शनीय बनकर उनके मुख पर झलकने लगता था।

वे मुझ निराश्रिता को आश्रय देकर अपनी भावना साकार कर रहे थे और मैं उनकी सेवा-सुश्रूषा करके काल यापन करने का प्रयत्न कर रही थी।

स्वामिनी की शंकालु दृष्टि हमारे निष्पाप व्यवहार को किसी और ही रूप में देख रही थी। उनके मन की कालिमा जब-तब उनके वचनों में भी उजागर होने लगी। स्वामी की उपस्थिति में तो वे कुछ संयमित रहतीं, पर जब स्वामी सामने नहीं होते तब मेरे रूप को लेकर, या मुझ पर स्वामी के सहज स्नेह को लेकर, उनके व्यंग्यवाण चारों ओर सनसनाते रहते थे।

नामकर्म की शुभ प्रकृतियाँ भद्रा सेठानी के उदय में भी पर्याप्त दिखाई देती थीं। वैभवशालिनी होने के साथ वे एक छरहरे, सुन्दर और सानुपातिक शरीर की भी स्वामिनी थीं। परन्तु प्रकृति का यह वैचित्र्य यहाँ भी सत्य सिद्ध हो रहा था कि 'सबको सब-कुछ नहीं मिलता'। उनके स्वभाव में प्रेम और कोमलता नहीं थी। प्रकृति ने उसके स्थान पर वहाँ बैरभाव, कठोरता और कर्कशता भर दी थी।

यदि दैहिक सौन्दर्य शील-सौजन्य के संस्कारों से सुसज्जित न हो तो देवांगना भी 'विष-कन्या' बन जाती है। भद्रा सेठानी के स्वभाव में भद्रता का अभाव था। लालित्य और नारी-सुलभ कमनीयता का जैसा समन्वय उनकी गौरवर्ण देह में था, वैसा उनके बर्ताव में नहीं था। वहाँ शुभ्रता के स्थान पर कालुष्य था। कुपित होने पर वे हृदय-हीनता की पर्याय बन जाती थीं।

स्वामी अपनी जीवन संगिनी की इस कटुता को सहज भाव से सहन करते थे। वे कभी पत्नी से जोर से बोले हों, ऐसा मैंने नहीं सुना। उनका मौन स्वामिनी

को और मुखर कर देता था। मौसी ने उस दिन बताया—

"यह पहली बार नहीं हो रहा। पूर्व में भी स्वामी को अपनी पत्नी की निर्मूल शंकाओं का शिकार होना पड़ा है। यह स्वामिनी के भीतर की हीन भावना का प्रतीक है। जीवन में हताशा हो तो उसे व्यक्त होने का कोई तो मार्ग चाहिए।"

भद्रा सेठानी के पास अपनी हताशा के उत्सर्ग का यही उपचार था।

9

उस दिन मध्याह्न का समय था। भोजन की बेला टलती जा रही थी पर स्वामी अभी तक लौटे नहीं थे। स्वामिनी भोजनोपरान्त विश्राम के लिए चली गयी थीं। दासियाँ उनकी सेवा में संलग्न थीं। मैं स्वामी की प्रतीक्षा में द्वार पर दृष्टि लगाये बैठी थी। भोजन में विलम्ब हो जाने पर उन्हें कष्ट हो जाता था, आज तो कुछ अधिक ही देर हो रही थी।

सहसा रथ की आहट मिली और स्वामी द्वार पर दिखाई दिये। सूर्य की प्रचण्डता और क्लान्ति के कारण उनका चेहरा विवर्ण हो रहा था, मस्तक स्वेदसिक्त हो रहा था। मैंने आसन दिया और झुककर उनका पाद-प्रक्षालन करने लगी। उनके चरण पखारते समय मैं सोच रही थी—

'उस दिन हाट में इन चरणों का सहारा न मिला होता तो क्या आज मैं जीवित होती ? कब की अपने जीवन का अन्त कर चुकी होती।

'कभी सुना था—कलंक लगाकर पतिगृह से निष्कासित अंजना के माता-पिता ने, लोकापवाद से भय से, अपनी ही पुत्री के लिए महल के द्वार बन्द करा दिये थे। घर में शरण नहीं दी थी उसे।

'पर, एक तुम हो मेरे पितृव्य !

तुमने हाट में नीलाम पर चढ़ी इस अभागिनी को
सबके सामने 'कन्या' कहकर बोली लगायी
और 'पुत्री' कहकर इन चरणों में आश्रय दिया।
मेरे लिए पूज्य हैं ये चरण, और महान हो तुम।'

मुझे लगा दीदी ! अक्षय बन जाए यह चरणधूलि। कभी अन्त न हो इसका। ऐसे ही पखारती रहूँ ये पावन चरण। घड़ी भर नहीं ! दिन भर नहीं ! जीवन भर।

इन्हीं भावना-तरंगों में डूबती-उतराती मैं, बार-बार उन चरणों को धोती जा रही थी। अनजाने मेरे केश काँधे पर से छिटक कर, स्वामी के चरणों पर बिखर गये। यह मैंने जान-बूझ कर नहीं किया था, पर यह मेरे मन का ही हुआ था। मुझे लगा ठीक ही तो है, पिता अपनी ममता से बेटी के सिर पर छाया करता रहे और बेटी

अपने केश फैलाकर पिता के चरणों का प्रोक्षण करती रहे, यह तो होना ही चाहिए। चरणों पर बिखरी मेरी केशराशि को, शायद मलिनता से बचाने के विचार से, स्वामी ने हाथ से उठाया और मेरे कन्धे पर डाल दिया।

तभी सहसा एक रोष भरी कर्कश ध्वनि कक्ष में गूँजी—

"यमुना...! क्या दिन भर पाँव ही धुलते रहेंगे ?...इसी से भूख मिट जाएगी ? ...क्या आज स्वामी को भोजन नहीं करने देगी यह मूर्खा ?"

स्वामिनी का यह व्यंग्य-वाण छूटा तो यमुना मौसी की ओर था, परन्तु उसका लक्ष्य किसी से छिपा नहीं था। वातायन से छिपकर देखा गया यह दृश्य उनके मन के शंकाकुरों को सींच रहा था, उनकी जड़ों का विस्तार कर रहा था। शंका, घृणा और डाह, उपेक्षा और अपमान, अवहेलना और अभियोग, वाणी के ये सातों हलाहल स्वामिनी के उन तीन वाक्यों में घुले हुए थे। सुनकर मैं भीतर तक सिहर उठी।

विप्लव के पूर्व घुमड़ने वाली घटाओं की तरह गरजतीं स्वामिनी कक्ष के भीतर चली गयीं।

वातायन के पट मुँद गये।

कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किये बिना स्वामी भोजनगृह की ओर चले।

कोठरी में आकर मैं पीड़ा से कराह उठी।

10

ऐसा क्यों हो रहा था दीदी ! कि समय की हिलोर मुझे बहाकर जहाँ-जहाँ पहुँचाती थी, मेरा दुर्भाग्य मुझसे पहले वहाँ पहुँच जाता था। इस घर में आकर कुछ सुरक्षित अपने आपको अनुभव कर रही थी, सोचती थी दयालु स्वामी के संरक्षण में काल-यापन कर लूँगी। हर दासी यह समझती है कि उसके भाग्य में स्वामिनी की ओर से उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार, ताड़ना, और दण्ड ही होंगे। पर सेठानी के मन का यह भ्रम एक अलग प्रकार का त्रास था। मैंने क्या बिगाड़ा था उस नारी का ? मुझसे किस जनम का बदला ले रही है भद्रा सेठानी ?

ऐसी ही दुश्चिन्ताओं और संक्लेशों में छटपटाते दिन बीत गया। शाम का अँधियारा अभी गहराया नहीं था, मेरी एक संगिनी मुझे बुलाकर नीचे तलघर में ले गयी। मुझे कल्पना भी नहीं थी कि स्वयं गृह-स्वामिनी उस सीलन भरे, अँधेरे कक्ष में मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। मुझे देखते ही उन्होंने जैसे गरज कर कहा—

"आओ महारानी ! यहाँ विराजो।

—तुम्हारे ये केश बड़े आकर्षक हैं, आज इनका शृंगार करा देते हैं।"

सुनते ही किसी अज्ञात भय से मैं काँप उठी। विष-वाण की तरह विषहरे और तीर की तरह तीखे स्वामिनी के बोल मुझे भीतर तक आहत कर गये।

दो-तीन अपरिचित नारी आकृतियाँ उस अँधेरे में दिखीं।
एक ने हाथ खींचकर मुझे भूमि पर बिठाया।
दूसरी शायद हाथ में कर्तरी लिये ही बैठी थी,
उसने तत्काल मेरे सारे केश कतर दिये।
क्षण मात्र में मेरी सुचिक्कन केशराशि मेरे पैरों के पास पड़ी थी।
मैं पंखकटी मयूरी की तरह विरूपा बनी
दासता की विवशता का वेदन कर रही थी।
केश नारी देह का अनुपम अलंकार है,
सिंह के झपटने पर प्राण लेकर भागती हुई
सौंरी गाय का पुच्छ कुन्तल, झाड़ियों में उलझता है,—

तब वह सिंह का ग्रास बन जाती है, पर
केश खोकर प्राण बचाना स्वीकार नहीं करती।
मुझे तो ऐसा भी कोई अवसर नहीं मिला था।

अभी स्वामिनी की निर्दयता का अन्त नहीं हुआ था,
निर्दोष निरीह दासी के लिए कोपाविष्ट स्वामिनी का
यह अन्तिम पुरस्कार नहीं था।

गुहा जैसे रहस्यमय उस कक्ष में एक लौह-शृंखला जड़ी थी।
उसी के छोर पर लगी बेड़ी मेरे पैर में पहनायी गयी।
अब तक मैं दासी थी, अब 'बन्दिनी-बाँदी' बन गयी।
इस प्रकार मेरी देह का आपाद-मस्तक शृंगार हो गया,
फिर जाती हुई क्रुद्ध स्वामिनी के शब्द कानों में टकराये—
"हवेली में बहुत राज कर लिया रानी जी !
अब अपने स्वामी के लौटने तक इस राजमहल में विश्राम करें।"

दूसरे क्षण कपाट बन्द होने की कर्कश ध्वनि सुनाई दी,
फिर निस्तब्धता छा गयी। कक्ष में अन्धकार घनीभूत हो गया।
एक क्षण पहले तक जिसकी कल्पना नहीं थी,
दारुण दुख का वैसा आघात मुझ पर हुआ था।
इस अप्रत्यसित आघात ने
मुझे सर्वाधिक वेदना पहुँचायी थी।
मेरा अपहरण करनेवाले विद्याधर ने,
मुझे पाने का प्रयास करनेवाले
और दासी बनाकर बेचनेवाले भीलों ने, तथा
धनार्जन के लोभ में मेरी बोली लगाने वाली गणिकाओं ने,
कुल मिलाकर मुझे जो पीड़ा पहुँचायी थी,
उससे कई गुनी पीड़ा आज
स्वामिनी के क्रूर व्यवहार ने मुझे दी थी।
उन तीनों ने भले ही मेरा सतीत्व नष्ट करने का प्रयास किया,
किन्तु मुझ पर 'चरित्रहीना' का लांछन किसी ने नहीं लगाया था,
मेरे शील को किसी ने शंका की दृष्टि से नहीं देखा था।
आज स्वामिनी ने 'पतित और व्यभिचारिणी' मानकर
मुझे यह दण्ड दिया है,

इस निकृष्ट अभियोग से मैं तलिमिला उठी।
दण्ड देने के पहले कोई एक बार प्रतिकार का अवसर तो देता।
मैं अग्निकुण्ड में कूदकर इस असत्य-अभियोग को भस्मीभूत करती।
कैसे सहूँ यह अन्याय...? ऐसा अपमान...? इतनी व्यथा...?
कहाँ से लाऊँ वह धीरज जो विपदा के इस सागर को तिर सके ?
कहाँ जाऊँ ?...किससे कहूँ ?...कौन सुनेगा मेरी पुकार ?
हे त्रिशलानन्दन !
अभी और क्या-क्या भोगना है तुम्हारी इस दासी को ?
इसका उद्धार करो करुणानिधान !

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेकं शरणं मम,
...त्वमेकं... ... ...शरणं... ... ...मम...

11

गवाक्ष से प्रकाश की किरणों ने प्रवेश किया तब तक मैं तीन बार सम्मेदाचल की वन्दना कर चुकी थी। तन ही तो बन्दी था, मन तो स्वतन्त्र था। तीन बार पारस प्रभु की निर्वाणभूमि पर खड़े होकर उन्हें पुकार चुकी थी। सोचती थी जिस स्थान पर खड़ी हूँ लोकान्त में उसी के ठीक ऊपर तो विराज रहे हैं पारस प्रभु। उनकी कृपा बरस रही है मेरे ऊपर। मन के ऐसे विश्वास से उपजी प्रभु कृपा की किरणों से मेरे संक्लेश के बादल छँट गये। दुःखावेग शान्त हो गया। समता के साथ मैंने अपने अप्रिय यथार्थ को स्वीकार कर लिया।

जब हमें ज्ञात ही नहीं है दीदी, कि पिछले भव-भवान्तरों से कितना दुष्कर्म हम अपने साथ बाँधकर लाये हैं, तब इस जन्म में, उदय की बलवत्ता को स्वीकार करके, जो सामने आवे उसे भोगना ही तो उपाय है हमारे पास।

आश्चर्य तो यह है कि यह सब जानते हुए भी,
अशुभोदय के काल में मन अस्थिर क्यों हो जाता है ?
परिणाम क्यों विषम हो जाते हैं ?
उस क्षण हमारी समता कहाँ खो जाती है ?
तब मन का धीरज कहाँ विलीन हो जाता है ?
इस मन की थिरता का उपाय क्या होगा ?

विचारधारा को तनिक विराम देकर अब मैंने भद्रा सेठानी द्वारा दी गयी कारा का अवलोकन किया। कक्ष बड़ा था, चारों ओर सीलन और दुर्गन्ध का साम्राज्य था। सम्भवतः वर्षों से इसमें मानव का वास नहीं हुआ था। डांस, मशक और उनके कुछ सहवासी निर्भीक विचर रहे थे। पैर में बेड़ी होते हुए भी लम्बी शृंखला के कारण कक्ष के पीछे तक जाने की सुविधा थी, साँस घुटने का भय भी नहीं था और दैनिक क्रियाओं की समस्या भी नहीं थी।

मुझे लगा—मेरी सुविधा का पूरा ध्यान रखा गया है,
कितनी दयालु हैं मेरी स्वामिनी !
मेरा कर्मोदय ही मेरी दुरवस्था का मूल कारण है।

दूसरे तो केवल निमित्त हैं, उनका कुछ दोष नहीं।
सन्मति महामुनि उन्हें सन्मति प्रदान करें,
मुझे इस दशा में रहने की शक्ति दें,
समता से उदय को सहने की शक्ति दें।

मध्याह्न में मौसी भोजन लेकर आयी। कोदों का रूखा भात और छाछ का सकोरा सामने रखकर उन्होंने पीड़ा भरे स्वर में कहा—

''आज इसी से सन्तोष करना होगा बेटी ! तुम चिन्ता मत करना, अल्प काल की बात है। स्वामी के लौटते ही सब ठीक हो जाएगा।''

मैंने उनकी आत्मीयता के लिए कृतज्ञता जतायी, और कुछ नहीं कहा। पर तभी मेरे मन में विचार आया—

जहाँ क्षुधा-निवृत्ति ही अभिप्राय हो
वहाँ भोज्य पदार्थों के नाम-रूप, गन्ध-स्पर्श और स्वाद,
सब अप्रासंगिक हैं। इनका कोई अर्थ नहीं।

वर्धमान महामुनि के बारे में भी यही तो सुना था—
दिनों-पक्षों-महीनों के अन्तर से,
देह-पोषण के लिए नहीं,
तप-वृद्धि के लिए, श्रावक के द्वार पर—
अनुद्दिष्ट - निरुपद्रव,
अयाचित और पवित्र,
निर्दोष और नीरस भोजन स्वीकारते हैं।
'गर्तपूरण' और 'अग्निशमन' की दृष्टि बनाकर,
जो जितना अंजुरी में आ जाए,
उसी में सन्तुष्ट हो जाते हैं।

यदि दस-ग्यारह वर्ष से उन तपस्वी के आहार का यह क्रम है
तो क्या मैं दस पाँच दिन भी वैसा नहीं निभा सकूँगी ?
निभा सकती हूँ और अवश्य निभाऊँगी मैं।
बहुत देख लिया है अल्पकाल में,
बड़े अनुभव प्राप्त कर लिये हैं छोटी-सी अवधि में।
इस कारा से यदि जीवित निकल सकी,

तो मैं भी वही मार्ग अपनाऊँगी।
उसी पाणि-पात्री की शरण में जाऊँगी।

ऐसा संकल्प करके मैंने एक बार पुनः पुकारा अपने नाथ को—
'यह लोहे की बेड़ी स्वामी की कृपा से कट जाएगी,
परन्तु कर्मों की बेड़ी
तुम्हारी कृपा के बिना नहीं कटेगी...महावीर !
अनेक जन्मों में भी नहीं कट पाएगी।
मुझे तुम्हारी कृपा की कोर चाहिए...वर्द्धमान !
जानती हूँ महामुनि !
तुम मेरे उद्धार के लिए यहाँ नहीं आओगे,
पर मैं तुम्हारी शरण में आऊँगी।
आज नहीं तो कल, भव में नहीं तो भवान्तर में,
अवश्य-अवश्य आऊँगी मैं।

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेकं शरणं मम,
त्वमेकं... ...शरणं... ...मम...

फिर मैं विचारती रही—

कुछ ऐसे भी तो अभागे होते हैं जिन्हें उदराग्नि शमन के लिए कोदों का भात और छाछ भी हर दिन कहाँ मिलता है। क्षुधा-ज्वाल में जलकर ही उनकी देह भस्म होती रहती है। उनसे तो अभी भी अच्छा है मेरा भाग्य।

बेला बीत रही थी अतः जैसे-तैसे दो-चार ग्रास पेट में डाले और छाछ पीकर मैंने अपनी क्षुधा-तृषा दोनों पीड़ाओं का उपचार कर लिया।

12

बन्दीगृह के दिन कष्टप्रद भले ही रहे परन्तु वहाँ शान्ति थी। मैंने अनुभव किया कि मनुष्य को आत्म-निरीक्षण के लिए तपोवन के अतिरिक्त यदि कोई स्थान उपयुक्त हो सकता है तो वह बन्दीगृह हो सकता है।

अपने आपको बाह्य जगत के परिदृश्य से काटकर अन्तर्मुखी चिन्तन के लिए, और अपने स्व के साक्षात्कार के लिए, जैसा निर्विघ्न एकान्त चाहिए, भद्रा सेठानी के तलघर का वातावरण वैसा ही था।

मेरे लिए स्वामिनी का दिया दण्ड अभिशाप के स्थान पर वरदान सिद्ध हुआ। वहाँ बैठकर प्रतिदिन बार-बार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन हुआ। इससे मन के सारे भ्रम टूट गये, सारी दुविधाएँ जाती रहीं।

तीन जनम लेकर जितना भोगा जा सकता है, उतना सब तीन दिन में भोगकर मैं उस भवन में गयी थी। उन सारे कटु अनुभवों ने मुझे लोक-भावना पर विचार करने के अनेक आयाम दिये थे। उन अनुभवों में जो कमी रह गयी थी उसे स्वामिनी की वक्र दृष्टि ने पूरा कर दिया था।

बन्दीगृह की जीवन-चर्या सुनिश्चित थी। कोई काम नहीं, कोई विघ्न नहीं कोई भय नहीं। मैंने वहाँ इन एकाकी क्षणों में जीने का संकल्प किया, और वहाँ के हर पल, हर क्षण को चिन्तन में लगाकर सार्थक करने का प्रयत्न किया। बार-बार सोचती रही कि मैं पहली नारी नहीं हूँ जिसके सतीत्व पर विपदा आयी हो। मैं अकेली नहीं थी जिसे अलीक लांछन लगाकर दण्डित किया गया हो। मातृत्व का भार वहन करती महासती सीता के निष्कासन, लोकापवाद और अग्नि-परीक्षा की कथा कौन नहीं जानता ? उस विपत्ति काल में, जब कहीं शरण नहीं थी तब, उन्होंने धर्म की शरण लेकर ही तो वह आघात सहा था।

अंजना सती को भी कलंक लगाकर घर-परिवार से निष्कासित कर दिया गया था। बड़ी आशा लेकर वे अपने पिता की शरण में गयी थीं, पर विपत्ति के समय कोई सहाई नहीं होता। जिसके गर्भ में तद्भव मोक्षगामी, अतिशय पुण्यशाली जीव पल रहा था, उस महासती अंजना के लिए उसके माता-पिता ने अपने द्वार बन्द

कर लिये थे। तब अंजना ने यही विचार तो किया था कि—जब संसार में सहायता के सारे द्वार बन्द हो जाते हैं तब भी धर्म का द्वार सभी जीवों के लिए खुला रहता है। वह कभी किसी के लिए बन्द नहीं होता। धर्म की शरण में जीव का कल्याण है। मुझे भी उसी की शरण में जाना चाहिए।

अभी तक मैं जीवन की परिधि में ही सोचा करती थी, बन्दीगृह में मुझे पहली बार मरण-विज्ञान का बोध हुआ। वह अवसर न मिलता तो संसार-देह और भोगों से आसक्ति टूटना सम्भव नहीं था। जन्मान्तर से मन में बसी वासनाओं का मूलोच्छेद सहज-शक्य नहीं होता।

भद्रा सेठानी ने अस्थिर चित्तवाली दुर्बल, आतंकित और सन्तप्त जिस चन्दना को बन्दीगृह में डाला था, वह अबला वहीं विलीन हो गयी थी। महावीर के चरणानुराग से बँधी, बन्दीगृह से बाहर आनेवाली मैं, वह पहले वाली दुर्बल चन्दना नहीं थी। अब मैं दृढ़-संकल्पित और प्रभु-शरणागत, सर्वथा नवीन, एक दूसरी ही चन्दना थी। मेरी सारी दुर्बलताएँ वहाँ गल गयी थीं, सारे आतंक जल गये थे। मानसिक सन्ताप का मेरे अन्तर में कोई चिह्न भी अब शेष नहीं था।

सच मानो दीदी ! उस तलघर में तुम्हारी चन्दन का नया जन्म हुआ। वहीं मैंने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लिया, और भविष्य की दिशा भी सुनिश्चत कर ली। वहाँ एक ही मन्त्र मेरी साँसों में अहर्निश गूँजता था—

'साहु सरणं पव्वज्जामि,
केवलीपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।'

13

कल रात मौसी यह समाचार सुनाकर गयी—

"सन्मति महामुनि कौशाम्बी के वन में पधारे हैं। जिस दिन भी आहार के लिए निकलते हैं, निराहार लौट जाते हैं। उनकी विधि कहीं भी मिलती नहीं है।"

मैं प्रभु के आगमन का वृत्त जानकर विकल हो उठी—

'मेरे आराध्य पधारे हैं ?
इसी नगरी में विचरण कर रहे हैं ?
कितनी भाग्यवती हूँ मैं।

श्रीचरण इस कारा तक आ नहीं सकते,
बन्दिनी उन तक जा नहीं सकती।
कैसी अभागिनी हूँ मैं।
कैसा विचित्र है मेरा प्रारब्ध ?

मैं अधीर हो उठी दीदी !
क्या इतने निकट आकर भी वे इतने दूर बने रहेंगे ?
क्या अभी भी दर्शन नहीं कर पाऊँगी अपने वर्धमान का ?
उपवास का व्रत तो लिया नहीं,
फिर इस प्रकार प्रतिदिन निराहार क्यों लौट जाते हैं ?
कौन-सी कठिन विधि अंगीकार कर ली है प्रभु ने ?
कहाँ मिलेगा उस विधि का संयोग ?
किसे मिलेगा उन्हें आहार देने का अवसर ?
कौन होगा वह भाग्यशाली ?'

मैं महावीर के चिन्तन में डूब गयी।
मेरी चेतना में किसी अन्य विचार का प्रवेश सम्भव नहीं रहा।
निद्रा भी हर बार दूर से ही लौट जाती।
'इस समय कहाँ विराजते होंगे मेरे नाथ ?
किस चिन्तन में लीन होंगे ?

क्या आज भी निराहार लौटेंगे कौशाम्बी के राजपथ से ?
क्या उनकी एक झलक पा सकूँगी आज ?'

नहीं, कल्पना के आकाश और यथार्थ की धरा में बड़ी दूरी होती है। बड़ी-बड़ी नदियाँ और पर्वत बीच में होते हैं। इसीलिए तो कल्पना और यथार्थ कभी मिलते नहीं। एक-दूसरे से दूर ही बने रहते हैं। मैं धरती पर खड़ी, नहीं, मैं कारा में पड़ी मुक्ताकाश के सपने देख रही हूँ, क्या यह पागलपन नहीं है ?

सहसा तलघर के पट खुले और मेरा भोजन लेकर मौसी ने प्रवेश किया। मैं उन्हें देखकर चौंक उठी। क्या इतना समय बीत गया है मेरी विचार-यात्रा में ? कितने दिवास्वप्न देख डाले हैं आज मैंने ?

"उठो, यह भात अभी बनाया है मैंने, अभी खाया तो बेस्वाद नहीं लगेगा। रखा रहा तो रूक्षता बढ़ जाएगी, आज फिर यों ही छोड़ दोगी। कल कुछ नहीं खाया तुमने।

"हमारे स्वामी आज लौट रहे हैं। चिन्ता मत करो, अब अधिक विलम्ब नहीं है तुम्हारी मुक्ति में।"

मौसी की शब्दावली स्नेह में सनी थी। मुझे लगा उन्हें स्वामी के आने की उतनी प्रसन्नता नहीं थी जितनी मेरी मुक्ति की कल्पना से वे प्रसन्न हो रही थीं। भोजन का पात्र अलिन्द में रखकर मौसी लौट गयीं। बन्द होते कपाटों की कर्कश-ध्वनि ने एक बार पुनः मुझे मेरी सीमाओं का भान करा दिया।

हाथ-मुँह धोकर बैठी तब अचानक मुझे ध्यान आया, अभी तो दिन का दूसरा प्रहर ही है। यह तो साधु की आहार-वेला है। मेरे आराध्य भी चर्या के लिए निकल रहे होंगे। आज यदि स्वामी यहाँ होते और मैं निर्बन्ध होती, तो उनसे आज्ञा लेकर नगर में जाती महावीर के दर्शन के लिए। देखती वे कैसे लौटते हैं निराहार ? क्यों नहीं मिलती उनकी विधि ?

14

अचानक कक्ष का मुख्य द्वार खुला। स्वामी ही द्वार पर खड़े थे।

अहोभाग्य, तुम आ गये मेरे पितृव्य ! मेरे संरक्षक !

"मैं तुम्हारा अपराधी हूँ पुत्री ! संरक्षक बनकर जैसे तुम्हें यहाँ लाया वैसे तुम्हारी रक्षा नहीं कर सका। हे भगवान ! यह तुम्हारे पैर में बेड़ी ? कितनी क्रूरता हुई है मेरे घर में, मेरी पुत्री के साथ ?"

वे उल्टे पाँव लौट पड़े। यमुना को बेड़ी खोलने का आदेश हुआ, पर कुंचिका तो स्वामिनी के पास थी। वे किसी अन्य गृह में भोजनार्थ गयी थीं।

"लौहकर्मी को लाकर बेड़ी कटवाना होगी" कहते हुए स्वामी स्वयं तीव्र गति से बाहर की ओर चले गये। सेवक द्वारा भी लौहकर्मी बुलवाया जा सकता है, यह सोचने का समय उनके पास नहीं था। एक क्षण भी मेरी दयनीय दशा उन्हें सह्य नहीं थी। ममता और दया का सागर लहरा रहा था उनके भीतर।

अनायास कैसा सुयोग बन गया था दीदी ! मुख्य द्वार खुला था। आज कई दिनों के उपरान्त मैं राजपथ की झलक पा रही थी। साधु-चर्या का वही तो समय था। वर्धमान महामुनि भी चर्या के लिए विचर रहे होंगे। यदि इसी मार्ग से निकले तब उनकी एक झलक तो मिल ही जाएगी। मेरी प्यासी आँखें तृप्त हो जाएँगी। मैं कल्पनाओं में खो गयी।

> दूर से 'महावीर की जय' का नाद सुनाई दिया।
> आज खुल ही गया मेरा भाग्य,
> आ रहे हैं महामुनि मेरी ही ओर।
> लगा, दौड़कर राजपथ पर पहुँच जाऊँ।
> ऐसा अपूर्व अवसर मिला है, इसे खोना नहीं है।
> कहीं यह क्षण निकल न जाए।
> परन्तु, क्या खाली हाथ जाऊँगी उनके सामने ?
> नहीं !... नहीं !!... नहीं !!!... यह नहीं होगा !

झपटकर मैंने भात का सकोरा उठाया और राजपथ की ओर दौड़ पड़ी। उस निमिष मैं सब-कुछ भूल गयी थी। बस, एक ही धुन समायी थी मेरे मन में कि आज निराहार नहीं लौटने दूँगी अपने आराध्य को। जैसे भी मानेंगे, मनाऊँगी। जैसे भी लेंगे, चार ग्रास तो देकर ही रहूँगी उनकी अंजुरी में।

द्वार लाँघ रही थी कि पाँव की बेड़ी ने अपनी सीमा जता दी। बन्धन में जकड़ा दूसरा पाँव द्वार के भीतर ही अटक गया। मैं कल्पना के आकाश से यथार्थ की धरती पर आ गिरी। एक ही क्षण में मेरा सपना चूर-चूर हो गया।

जयकारे की ध्वनि निकटतर आ रही थी,
मन कहता था उड़कर पथ के पास पहुँच जाऊँ।
पर तन तो बन्धन में था।
एकाएक दृष्टि ने कहा—
'मैं असीम की सीमा देख लेती हूँ,
मुझे जकड़ सके ऐसी बेड़ी का स्रजन ही नहीं हुआ।'
और वह दर्शन की प्यासी दृष्टि,
पलक झपकते पथ के पास पहुँच गयी।
निकट आते भिक्षु को उसने परिधि में बाँध लिया।

तब वाणी चिल्लायी—
'मैं तीनों लोक नाप सकती हूँ,
मैं क्यों कारा की बन्दिनी रहूँ ?'
और मेरे मुख से हठात् ही निकल पड़ा—
हे स्वामिन् !... नमोस्तु ! ...नमोस्तु ! ...नमोस्तु !

द्वार पर महायोगी रुकते से लगे,
मैं आशा से भर उठी,
कि तभी वे कठोर चरण आगे बढ़ते दिखे।
मैंने पूरी शक्ति से टेर लगायी—
  'तुम्हारे लिए भी मैं पतिता हूँ महावीर ?
  दासी की ओर नहीं निहारोगे, ओ पतितपावन !'
कहते-कहते पलकों पर अश्रु झलक आये।

ये अश्रु बड़े हठीले हैं दीदी !
जब तक कोई पारखी सामने न दिखे,

कोटर से बाहर नहीं निकलते।
कृपासिन्धु स्वामी के स्वागत की प्रतीक्षा में,
जाने अब तक किस कोने में छिपे थे ?

पीड़ित की पुकार ने योगी को बाँध लिया,
महामुनि का दासी पर पुनः दृष्टिपात हुआ।
मेरी सद्य-सज्जा विधि के अनुरूप रही होगी,
मैं मुण्डित केशा, मलिन मुखी,
एक पग बन्धन में, दूसरा स्वतन्त्र।
एक नयन उल्लसित, दूसरे में अश्रु,
माटी के सकोरे में कोदों का भात,
आवाहन मुद्रा में उठे हुए हाथ।
लौटे करुणानिधान
और...मुझ दुखिया के ...सामने...ठहर गये।

प्रदक्षिणा देने चली तब ध्यान गया दीदी !
जाने क्या चमत्कार घटित हो गया था,
मेरा पैर बन्धन से मुक्त, मैं स्वतन्त्र थी,
मस्तक पर दीर्घ केश लहरा रहे थे।
सद्यःस्नाता-सी निर्मल, दिव्य वस्त्रों में सजी,
सकोरे के स्थान पर स्वर्ण पात्र लिये हुए
प्रभु के सामने खड़ी मैं
उनकी अंजुरी में ग्रास दे रही थी।

प्रभु आगमन से यह सब घटित हुआ ?
या अतिशय ही उनके पधारने का हेतु बना ?
या दोनों घटनाएँ साथ-साथ घटती गयीं ?
बताना कठिन है, पर इतना कह सकती हूँ—
भक्ति में अचिन्त्य-अपार शक्ति होती है।

आहार सम्पन्न होने में समय नहीं लगा।
मैंने संकल्प साकार करने में भी विलम्ब नहीं किया।

संघ की शरण में स्वयं को समर्पित कर,
जिस क्षण मैंने महावीर का आशीर्वाद पाया,
वही मेरे जीवन का सर्वोत्तम क्षण था।

'बड़े अन्तराल से वर्धमान महामुनि की पारणा हुई है'
धरा से गगन तक हर्ष फैल गया।
वायु सुरभित हो उठी, नभ से पुष्प बरसने लगे।
यह सुयोग पाकर मैं कृतकृत्य हो गयी।
मेरा जीवन सफल हो गया।
लोग मेरे भाग्य को सराहते, प्रशंसा करने लगे।
क्षण भर में जन-समूह एकत्रित होने लगा।
इसी बीच मैंने तुम्हें भी वहाँ देखा।

दीदी ! तुम्हारा मान रखने को
मैंने सारा मनोगत व्यक्त कर दिया।
स्मृतियों को शब्दों में बाँधकर तुम्हें सौंप दिया।
अन्त में कौशाम्बी की महारानी से अनुनय है—
इन घटनाओं में किसी को दोषी न माना जाए,
किसी को दण्डित / प्रताड़ित न होना पड़े।

शुभाशुभ दोनों ही कर्मों के कौतुक हैं,
अन्य सब निमित्त हैं, किसी का कुछ दोष नहीं।
कर्म-फल भोगने को हम सब विवश हैं,
मैंने भी अपना ही कर्मोदय भोगा है।
बसन्तमित्र-मनोवेगा, भील और भीलनी,
भद्रा और वृषभदत्त,
केवल निमित्त हैं, उनका अपराध नहीं।
भील कौशाम्बी नहीं लाता तो
वन में मरण निश्चित था।
दुर्लभ पर्याय ही निरर्थक हो जाती।

सेठानी तलघर में बन्दिनी बनाने की,
मुण्डन कराने की कृपा नहीं करती तो,
महामुनि की चर्या का निमित्त कहाँ मिलता ?
और फिर कोदों का भात कौन देता ?

इन सबके कारण ही
राग में डूबी हुई यह अबोध बालिका
विराग के सहारे प्रभु-चरणों में पहुँच सकी।

सब मेरे मित्र हैं, शत्रु अब कोई नहीं,
आपसे, उन सबसे क्षमा-याचना है, और–
प्रार्थना है आज सब मुझको क्षमा करें।
सबके प्रति मेरे अन्तर में क्षमा भाव है,
दीदी !...अब विदा दो, ...बहुत दूर...जाना है।

प्राची में उषा की लालिमा झलकने लगी,
सूर्योदय होने में क्षण भर की देर थी।
गोपुर में मंगल वाद्य बजने लगे थे, तभी
उदयन ने रथ लाकर द्वार पर लगा दिया।

□□□

नीरज जैन

नीरज जैन लगभग पच्चीस वर्षों से जैन-विद्या पर लिखने/बोलनेवालों में जाना-पहचाना नाम है। *गोमटेश-गाथा* के लेखन से उन्होंने पौराणिक आख्यानों को आधुनिक भाषा और नवीन पद्धति में प्रस्तुत करने का जो अभिनव प्रयास किया उसे पाठकों की सराहना मिली है। उनकी अन्य पुस्तकें – *रक्षाबन्धन, परम दिगम्बर गोमटेश्वर, अहिंसा और अपरिग्रह, कर्मन की गति न्यारी* तथा *मानवता की धुरी* भी लोकप्रिय हुई हैं। कुछेक पुस्तकें मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं तमिल में अनूदित होकर आ चुकी हैं।

तीर्थंकर महावीर*ते न्यारी* तथा *मानवता की धुरी* भी महासती चन्दना पर श्री जैन की नवी, तमिल, कन्नड़ एवं तमिल में 0वें जन्म-कल्याणक वर्ष के अवसर

सम्पर्क : शान्ति*ना की धुरी* भी महासती चन्दना पर 485 001
तमिल में 0वें जन्म-कल्याण

भारतीय ज्ञानपीठ

स्थापना : सन् 1944

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण

संस्थापक

स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन

स्व. श्रीमती रंमा जैन

अध्यक्ष

श्रीमती इन्दु जैन

कार्यालय : 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003